SWAMI VIVEKANANDA

·The Hindoo Monk of India·

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक २
फरवरी १९९९
मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक २ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(पहली तालिका)

१. विवेकानन्द इंग्लिश हाईस्कूल, चौबे कॉलोनी, रायपुर (म.प्र.)
२. श्रीमती मधुलिका जायसवाल, नई दिल्ली
३. श्री राजेन्द्र एस. पटेल, शिकागो (अमेरिका)
४. श्री दयाशंकर व्यास, इन्दौर (म.प्र.)
५. उचित-मूल्य-दुकान, रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर, बस्तर (म.प्र.)
६. श्री सुशील चोमाल, झुन्झुनू (राजस्थान)
७. स्वामी रामतत्त्वानन्द, रामकृष्ण मिशन, लिमड़ी (गुजरात)
८. श्री निरंजन दास राजेन्द्र, नवागाँव, शहडोल (म.प्र.)
९. सुश्री चित्रा आर. तायडे, करोडी, नागपुर (महाराष्ट्र)
१०. श्री राहुल नेमा, जबलपुर (म.प्र.)
११. श्री नानजीभाई अम्बाभाई, मेदरणा, जूनागढ़ (गुजरात)
१२. श्री सीताराम रजक, जबलपुर (म.प्र.)
१३. श्री रामकृष्ण व्यास, इचलकरंजी, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)
१४. श्री उन्मेश अरुण राने, शेगाँव, बुलढाणा (महाराष्ट्र)
१५. श्री ज्ञानीराम लिलहरे, कटोरातालाब, रायपुर (म.प्र.)
१६. श्री अरुणदेव भट्टाचार्य, भद्रकाली (प. बंगाल)
१७. श्री आत्मबोध अग्रवाल, समता कॉलोनी, रायपुर (म.प्र.)
१८. श्री किशन चन्द बागड़ी, कलकत्ता (प. बंगाल)
१९. डॉ. दिलीप देसाई, बड़ौदा (गुजरात)
२०. श्री राजेश कुमार वैश्य, नागपुर (महाराष्ट्र)
२१. श्री वासुदेव बारंगे, अल्कापुरी, रतलाम (म.प्र.)
२२. श्रीमती छबी चैटर्जी, कंकालीपाड़ा, रायपुर (म.प्र.)
२३. श्री नरसिंग दास के. महाजन, महेश्वर, खरगोन (म.प्र.)
२४. श्री उदयराज सिंह, रिसाली, भिलाई (म.प्र.)
२५. श्री कालू शंकर त्रिपाठी, माण्डल, भीलवाड़ा (राजस्थान)
२६. श्री यू. के. तिवारी, भोपाल (म.प्र.)
२७. श्रीमती आभा चैटर्जी, रायपुर (म.प्र.)
२८. डॉ. निरंजन अग्रवाल, अकोला (महाराष्ट्र)
२९. स्वामी ओंकारेश्वरानन्द, अकोला (महाराष्ट्र)
३०. श्री एस. एल. गंगराडे, जबलपुर (म.प्र.)
३१. श्री सुरेश कुमार मोहबे, डोंगरगढ़ (म.प्र.)
३२. श्री राजेन्द्र कुमार गुप्ता, नई दिल्ली
३३. श्री आर. के. मिश्रा, बालाघाट (म.प्र.)
३४. श्री हरबंस लाल पाहड़ा, जम्मू (काश्मीर)

३५. श्री एस. ए. पाटिल, चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)
३६. श्री धर्मेन्द्र कुमार सिंह, कलकत्ता (प. बंगाल)
३७. श्री शोभा शर्मा, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
३८. डॉ. श्रीमती शीला तिवारी, शंकरनगर, रायपुर (म.प्र.)
३९. डॉ. श्री आइ. एम. शुक्ला, शैलेन्द्रनगर, रायपुर (म.प्र.)
४०. श्री जी. के. दीक्षित, बड़ौदा (गुजरात)
४१. डॉ. श्री प्रदीप कंथरिया, गांधीनगर (गुजरात)
४२. सुश्री नीति के. पोद्दार, नासिक (महाराष्ट्र)
४३. श्री जे. एल. वैश, दुधीचुआ कॉलोनी, सीधी (म.प्र.)
४४. श्री एल. एस. भेदी, शंकरनगर, बिलासपुर (म.प्र.)
४५. श्री दीनदयाल नागेसिया, लखनपुर (म.प्र.)
४६. डॉ. श्रीमती ममता शुक्ला, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
४७. श्री आर. आर. पाण्डेय, प्रबासनगर, हुगली (प. बंगाल)
४८. रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द संस्कृति संस्थान, शिलांग (मेघालय)
४९. श्री भरत चावड़ा, गोंदिया, भण्डारा (महाराष्ट्र)
५०. श्री नरेन्द्र सी. गोहिल, अमरावती (महाराष्ट्र)

आजीवन ग्राहकों को सूचना

मासिक 'विवेक-ज्योति' का आजीवन ग्राहकता शुल्क (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७०० निर्धारित हुआ है। जिन ग्राहकों ने पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान १००, २०० या ३०० रुपये की दर से यह शुल्क जमा किया है, उनसे अनुरोध है कि वे अपने ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए बाकी राशि का, अपनी सुविधानुसार इकट्ठे या किस्तों में मनिआर्डर या बैंकड्राफ्ट के द्वारा यथाशीघ्र इसी वर्ष (१९९९ई.) जमा कर दें। भेजी जानेवाली राशि का विवरण इस प्रकार है — ग्राहक संख्या L-९१४ से L-३४१४ तक रु. ६००/- ग्राहक संख्या L-३४१५ से L-३९२५ तक रु. ५००/-; ग्राहक संख्या L-३९२६ से L-४१९३ तक रु. ४००/-

जिन सदस्यों की राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायेगी, उन्हें जनवरी-९९ से पच्चीस वर्षों के लिए नया आजीवन सदस्य बना लिया जायेगा। नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने पर जमाराशि में से प्रतिवर्ष का वार्षिक शुल्क (रु. ५०) काट लिया जायेगा और राशि समाप्त हो जाने पर अंक भेजना स्थगित कर दिया जायेगा। — *व्यवस्थापक*

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

जीवन की सार्थकता

न ध्यातं पदणीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकवाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ।।

अन्वय – संसारविच्छित्तये (जन्म-मरण-रूपी संसार के विच्छेदन अर्थात मोक्षप्राप्ति हेतु) ईश्वरस्य (भगवान के) पदं (चरण का) विधिवत् (शास्त्रविधि के अनुसार) न ध्यातं (हमने ध्यान नहीं किया), स्वर्ग-द्वार-कवाट-पाटन-पटुः (स्वर्गद्वार के पल्लों को खोलने में सक्षम) धर्मः अपि (धर्म का भी) न उपार्जितः (हमने उपार्जन नहीं किया), स्वप्ने अपि (सपने में भी) नारी-पीन-पयोधर-उरु-युगलं (हमने पीन-पयोधरोंवाली नारी का) न आलिङ्गितं (आलिंगन नहीं किया); मातुः (माता के) यौवन-वन-च्छेदे (यौवनरूपी पुष्पित उद्यान का उच्छेदन करने के लिए) वयं (हम तो) केवलं (केवल) कुठारा (कुल्हाड़ी के रूप में) एव (ही जन्मे हैं) ।

अर्थ – जन्म-मरण-रूपी संसार के विच्छेदन अर्थात मोक्षप्राप्ति हेतु भगवान के चरण का शास्त्रविधि के अनुसार हमने ध्यान नहीं किया, स्वर्गद्वार के पल्लों को खोलने में सक्षम धर्म का भी हमने उपार्जन नहीं किया, सपने में भी हमने पीन-पयोधरोंवाली नारी का आलिंगन नहीं किया; माता के यौवनरूपी पुष्पित उद्यान का उच्छेदन करने के लिए हम तो केवल कुल्हाड़ी के रूप में ही जन्मे हैं अर्थात हमारा जीवन निष्फल ही जा रहा है ।

— भर्तृहरिकृत **वैराग्यशतकम्**, ४५

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(छायानट-त्रिताल)

रे मन, रामकृष्ण जप लीजै।
भवसागर में जीवन नौका, निशिदिन पल पल छीजै॥
भोग-विषय की चाह न करना,
सुख-दुख की परवाह न करना,
जासो जनम सफल हो अपनो, ताही में चित दीजै॥
मैं-मेरा का बन्धन तोड़ो,
नाम-दाम निज गाँठ न जोड़ो,
पूरे तन-मन हृदय-प्राण से, प्रभु आराधन कीजै॥
पूजन भजन स्मरण शरणागति,
इनमें लगी रहे अपनी मति,
अन्तर्यामी घट घट वासी, सबकी सेवा कीजै॥

– १६ –

(आसावरी-झापताल)

अवतार पुनः लेकर तुम आये हो धरा पर,
अज्ञान दुख मिटाने, प्रज्ञान पथ दिखाकर ॥
त्रेता में राम आये, द्वापर में कृष्ण छाये,
इस युग में चित लुभाये, वो रामकृष्ण होकर ॥
सब पन्थ सब मतों की, जीवन में साधना की,
हर धर्म एक पथ है, घोषित किया अनन्तर ॥
है लक्ष्य जिन्दगी का, निज इष्ट लाभ ही का,
व्याकुल उन्हें पुकारो, कामादि दोष तजकर ॥
सदियों से पड़ा भारत, निद्रा प्रमाद में रत,
आह्वान कर जगाने, लाये विवेक-भास्कर ॥

– विदेह

(कुमारी मेरी हेलबॉयस्टर को)

द्वारा कुमारी नोबल,
२१ ए, हाई स्ट्रीट, विम्बलडन,
(?) अगस्त, १८९९

प्रिय मेरी,

मैं फिर लन्दन में हूँ। इस बार कोई व्यस्तता नहीं, कोई उतावलापन नहीं; एक कोने में शान्तिपूर्वक बैठ गया हूँ — अवसर मिलते ही अमेरिका के लिए प्रस्थान करने की प्रतीक्षा में हूँ। मेरे प्राय: सभी मित्र लन्दन से बाहर हैं — ग्रामों या अन्य स्थानों में और मेरा स्वास्थ्य भी सन्तोषजनक नहीं है।

हाँ, तो तुम कनाडा के अपने एकान्त, झीलों तथा उपवनों के बीच सुखपूर्वक हो। यह जानकर कि तुम पुन: अपने उत्कर्ष की चोटी पर हो, मैं खुश हूँ, बहुत खुश। तुम सतत वहीं बनी रहो। अपने अल्पकालीन परन्तु प्रबल ग्रीष्म में कनाडा आजकल अवश्य ही सुन्दर और स्वास्थ्यप्रद भी हो रहा होगा।

तुम अब तक 'राजयोग' का अनुवाद समाप्त कर न सकी — ठीक है, कोई जल्दी नहीं है। तुम जानती हो कि अगर इसे पूरा होना है, तो समय तथा अवसर अवश्य आयेगा, अन्यथा हम व्यर्थ ही प्रयत्न करते हैं। कुछ सप्ताह मैं न्यूयार्क में रहने की आशा करता हूँ और इसके आगे क्या होगा, मुझे मालूम नहीं। आगामी वसन्त में मैं फिर इंग्लैण्ड आने की आशा करता हूँ।

यह मेरी उत्कट अभिलाषा है कि कोई आपदा किसी के भी पास न फटके, लेकिन आपदा ही एक ऐसी वस्तु है, जो हमें अपने जीवन की गहराइयों में अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। क्या यह सच नहीं है? अन्तर्वेदना के क्षणों में सदा के लिए जकड़े द्वार खुलते प्रतीत होते हैं और प्रकाश का एक प्रवाह अन्दर प्रविष्ट होता प्रतीत होता है।

अवस्था के साथ साथ हम सीखते चलते हैं। खेद की बात है कि यहाँ हम अपने ज्ञान का उपयोग नहीं कर पाते। जिस क्षण हमें लगता है कि हम सीख रहे हैं, उसी क्षण रंगमंच से हटा दिये जाते हैं। और यही माया है!

यदिं हम ज्ञानी खिलाड़ी हों, तो नकली संसार की यहाँ कोई सत्ता नहीं होगी, यह खेल आगे ही न चले। आँखों में पट्टी बाँधे हमें खेलना होगा। हममें से किसी ने इस नाटक में खलनायक की भूमिका ली है और किसी ने नायक की — चिन्ता बिल्कुल भी मत करो,

यह सब एक नाटक है। यही एक दिलासा की बात है। रंगमंच पर क्या नहीं है - वहाँ दैत्य है, सिंह हैं, चीते हैं, लेकिन इन सबका मुँह बँधा हुआ है। ये उछलते हैं, लेकिन काट नहीं सकते। संसार हमारी आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकता। यदि तुम चाहो, तो तुम अपने क्षत-विक्षत तथा खून से लथपथ शरीर में भी महत्तम मानसिक शान्ति का उपभोग करती रह सकती हो।

और इसका यही एक मार्ग है कि आशाहीनता को प्राप्त किया जाय। क्या उसका तुम्हें ज्ञान है? यह नैराश्य जड़-बुद्धि नहीं है, यह तो एक विजेता की उन वस्तुओं के प्रति अवज्ञा है, जिनको उसने प्राप्त कर लिया है, जिनके लिए उसने संघर्ष किया है और फिर जिनको अपने महत्त्व की तुलना में नगण्य समझकर ठुकरा दिया है। इस आशाहीनता, इच्छाहीनता, उद्देश्यहीनता का ही प्रकृति के साथ सामंजस्य है। प्रकृति में कोई सामंजस्य नहीं, कोई तर्क नहीं, कोई क्रम नहीं; उसमें पहले भी अस्तव्यस्तता थी, अब भी है।

निम्नतम मनुष्य भी अपने पार्थिव मन के द्वारा प्रकृति के साथ एकलय है; उच्चतम भी अपने पूर्ण ज्ञान के साथ वैसा ही है। ये तीनों ही उद्देश्यहीन, स्वच्छन्द तथा आशारहित हैं - तीनों ही सुखी हैं।

तुम एक गप्पी पत्र की आशा करती हो, है न? गप्पों के लिए मेरे पास कोई अधिक सामग्री नहीं है। अन्तिम दो दिन स्टर्डी भी आये थे। कल वे वेल्स - अपने घर जा रहे हैं। दो-एक दिन में न्यूयार्क के लिए मुझे टिकट लेने हैं।

लन्दन में मेरे जो पुराने मित्र हैं, उनमें से कुमारी साउटर तथा मैक्स गिसिक के अतिरिक्त मैं अन्य किसी से नहीं मिला हूँ। ये सदा की भाँति बहुत ही सहृदय रहे हैं।

चूँकि अब तक लन्दन के विषय में मुझे कुछ भी मालूम नहीं, इसलिए मेरे पास तुम्हारे लिए कोई समाचार नहीं है। मुझे पता नहीं कि ग्रेट्रूड आर्चर्ड कहाँ है, नहीं तो मैंने उन्हें लिखा होता। कुमारी केट स्टील भी बाहर है। वह गुरुवार या शनिवार को आनेवाली है।

मुझे पेरिस में ठहरने के लिए एक मित्र का निमंत्रण मिला है, वे एक अच्छे पढ़े-लिखे भद्र फ्रांसीसी हैं, लेकिन इस बार मैं नहीं जा सका। कभी फिर, कुछ दिनों के लिए मैं उनके साथ रहने की आशा करता हूँ। मैं अपने कुछ पुराने मित्रों से मिलने तथा उनसे नमस्कार-प्रणाम करने की आशा करता हूँ।

निश्चय ही तुमसे अमेरिका में मिलने की आशा है। या तो अपने पर्यटन के सिलसिले में मैं अप्रत्याशित रूप से ओटावा आ सकता हूँ या तुम्हीं न्यूयार्क आ जाओ।

शुभेच्छा, तुम्हारा मंगल हो।

भगवत्पदाश्रित,

विवेकानन्द

दुःख की समस्या

स्वामी आत्मानन्द

यह प्रत्यक्ष है कि हमारे समस्त दुःखों का प्रारम्भ मन में होता है। मन हमारा मित्र है और शत्रु भी। वश में किया हुआ मन हमारा मित्र है, और जब यह मन हमें वश में कर लेता है, तब हमारा शत्रु है। यदि हम सावधानी से अपना विश्लेषण करें, तो देखेंगे कि मन ही हमारे सब दुःखों का उद्‌गम-स्थान है। भ्रमवश हम दूसरों पर दोष लगाते है। दूसरों पर दोष मढ़ना सहज है, पर अपने दुःख के लिए जो स्वयं को दोषी मानता है, वह दुःख से ऊपर उठने की दिशा में मानों एक कदम आगे बढ़ जाता है।

यदि हम अपने मन पर ध्यान दें और देखें कि यह क्या है, तो हम देखते हैं कि यह सदा परिवर्तनशील है। एक क्षण में वह सुखी होता है और एक क्षण में दुःखी। कभी अचानक ही वह चिड़चिड़ा हो जाता है। पर हममें से अनेक मन के इस अकस्मात् परिवर्तन का कारण पकड़ नहीं पाते। क्यों? इसलिए कि हममें संयम नहीं है; इसलिए कि मन अत्यन्त चंचल है। मन की यह चंचलता ही उसकी विक्षिप्तता का कारण है। मन की इस चंचलता को मन पर निगाह डालने के अभ्यास द्वारा कम किया जा सकता है। हमें अपने विचारों को देखने का अभ्यास करना होगा।

यदि हम नियमित रूप से कुछ समय तक ऐसा अभ्यास करें, तो हम अपने मन का अध्ययन करने में तथा इसके परिवर्तन को देख सकने में समर्थ हो सकेंगे।

प्रश्न उठता है कि मन के इस परिवर्तन को कौन देखता है? कोई वस्तु, जो हमारे भीतर ही है। हम यह अनुभव कर सकते हैं कि हम स्वयं ही अपने मन को देख रहे हैं। हम कहते हैं – "मेरा मन मुझे दुःख देता है।" यह कथन ही स्पष्ट करता है कि मैं मन से पृथक हूँ। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे भीतर मन से अतीत कोई वस्तु है और वह वस्तु है चेतना। यदि हम इस चेतना को पकड़कर मन से ऊपर उठ जाएँ, तो हम मन को नियंत्रित करने में समर्थ हो सकेंगे और इस प्रकार दुःख की समस्या का समाधान कर लेंगे।

आर्किमिडिज ने कहा था कि यदि हम पृथ्वी से परे, पर्याप्त दूरी पर एक स्थान ढूँढ़ सकते, तो हम पृथ्वी को ढेंकली से उसी प्रकार उठा या झुका सकते थे जैसे कि एक सेब को। इसी तरह यदि हम मन से परे तथा मन से दूर एक स्थिति ढूँढ़ सकें, तो अपने मन को पूर्णतया संयत कर सकते हैं। पर मुश्किल यह है कि हम अपने मन और शरीर से तदाकार हो जाते हैं, इसलिए मन को अपने नियंत्रण में नहीं ला पाते। फलस्वरूप हम दुःख का अनुभव करते हैं।

अच्छा, एक प्रश्न पूछें। दुःखी कौन होता है? हमारा मन, या शरीर या दोनों? जब हम शारीरिक व्यथा का अनुभव करते हैं, तब व्यथा शरीर की होती है। दूसरी ओर, जब हम

अपमान या हानि सहते हैं, तब व्यथा का अनुभव शरीर में नहीं, मन में करते हैं। जब हम अन्य किसी व्यक्ति के व्यापार में घाटा पड़ जाने की बात पढ़ते हैं, तब हमें उतना दुःख नहीं होता, किन्तु वह व्यापार हमारा हो, तो हमें कठोर आघात पहुँचता है। यह सब इस पर निर्भर करता है कि हम उस दुर्घटना से कितने सम्बन्धित हैं। हम यह स्पष्ट देख सकते हैं जब हम मन को इन वस्तुओं के साथ एकाकार कर लेते हैं, तभी दुःखी होते हैं। यदि हम अपने मन को दुःख के विषय से एकाकार न करें, तो संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो हमारे दुःख का कारण बने। अतएव हमें चाहिए कि हम शरीर और मन से एकाकार न हों।

पर प्रश्न यह है कि यह सम्भव कैसे हो? हमने पूर्व में मन से परे जिस चेतना की बात कही, उसमें यदि हम अपनी आस्था गहरी कर सकें, तो धीरे-धीरे यह सम्भव है कि हम अपने मन पर नियंत्रण पा लें। पहले युक्तियों, तर्कों और प्रमाणों के बल पर हमें चेतना की बौद्धिक धारणा करनी पड़ती है, तत्पश्चात् इस चेतना को अनुभव में लाने का प्रयास करना पड़ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है –

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

जब मनुष्य आकाश को चमड़े के समान लपेट लेंगे, तब ईश्वर यानी विराट् चेतना को बिना जाने दुःख का अन्त हो सकेगा। तात्पर्य यह कि मनुष्य आकाश को चमड़े के समान कभी लपेट नहीं सकता। अत: बिना उस विराट् चेतना की अनुभूति के दुःख का भी अन्त नहीं हो सकता। दुःख की समस्या का स्थायी समाधान केवल इसी प्रकार सम्भव है। □

जागतिक समस्याओं का भारतीय समाधान

संसार के राष्ट्रों द्वारा बड़ी समस्याओं का समाधान हो रहा है। भारत ने सदैव से एक पक्ष ग्रहण किया है और बाकी संसार ने दूसरे पक्ष का। समस्या है कि भविष्य में कौन टिक सकेगा? क्या कारण है कि एक राष्ट्र जीवित रहता है और दूसरा नष्ट हो जाता है? जीवन-संग्राम में घृणा टिक सकती है या प्रेम, भोगविलास चिरस्थायी है या त्याग, भौतिकता टिक सकती है या आध्यात्मिकता? हमारी विचारधारा उसी प्रकार की है, जैसी कि अत्यन्त प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों की थी। जिस अन्धकारमय प्राचीन काल तक पौराणिक परम्पराएँ भी नहीं पहुँच सकतीं, उसी समय हमारे यशस्वी पूर्वजों ने समस्या के अपने पक्ष को ग्रहण करके संसार को चुनौती दे दी थी। हमारा समाधान है – वैराग्य, त्याग, निर्भयता और प्रेम। बस ये ही सब टिकने योग्य हैं। जो राष्ट्र इन्द्रियों की आसक्ति का त्याग कर देता है, वही टिक सकता है।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(पैंसठवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

श्रीरामकृष्ण की प्रेमोन्मत्त अवस्था और आचार अनुष्ठान

ठाकुर के प्रेमोन्माद की बात चल रही है। ठाकुर कह रहे हैं, "कैसी हालत बीत चुकी है। यहाँ भोजन नहीं करता था, वराहनगर या दक्षिणेश्वर या अरियादह में किसी ब्राह्मण के घर चला जाता, और जाता भी देर से था। जाकर बैठ जाता, पर बोलता नहीं था। घर के लोग पूछते तो केवल कहता, 'मैं यहाँ खाऊँगा'।" उनका ऐसा कहना उनको शोभता था, क्योंकि उनके अन्तःकरण में एक शिशु के समान अभेदभाव रहता था। ये अवस्थाएँ किसी के जीवन में स्वाभाविक भाव से होती है और कोई कोई विधि या प्रथा का अनुसरण करते हैं, जैसे किसी संन्यासी के द्वारा भिक्षा माँगने पर लोग उसे खाने को दे देते हैं। ठाकुर की यह संन्यास की अवस्था सहज-स्वाभाविक है, आनुष्ठानिक नहीं।

उसके बाद वे कहते हैं, "एक दिन हठ कर बैठा, देवेन्द्रनाथ ठाकुर के घर जाऊँगा। मथुरबाबू से कहा, 'देवेन्द्र ईश्वर का नाम लेते हैं, उनको देखना चाहता हूँ, मुझे ले चलोगे?' मथुरबाबू को अपनी मान-मर्यादा का बड़ा अभिमान था, वे अपनी गरज से किसी के मकान पर क्यों जाने लगे। आगा-पीछा करने। बाद में बोले, 'अच्छा, देवेन्द्र और हम एक साथ पढ़ चुके हैं, चलिये, आपको ले चलेंगे'।" इस तरह जाने पर कई बार तो सामनेवाला हड़बड़ा जाता, तैयार नहीं हो पाता। "एक दिन सुना कि दीन मुखर्जी नाम का एक भला आदमी बागबाजार के पुल के पास रहता है। भक्त है। मथुरबाबू को पकड़ा, दीन मुखर्जी के यहाँ जाऊँगा। मथुरबाबू क्या करते, गाड़ी पर मुझे ले गये। छोटा-सा मकान और इधर एक बड़ी भारी गाड़ी पर एक बड़ा आदमी आया है; वह भी शरमा गया और हम भी। फिर उसके लड़के का जनेऊ होने वाला था। कहाँ बैठाये? हम लोग बगल के कमरे में जाने लगे तो वह बोल उठा, 'वहाँ न जाइये, उस कमरे में औरतें हैं।' बड़ा असमंजस था। मथुरबाबू लौटते समय बोले, 'बाबा, तुम्हारी बात अब कभी न मानूँगा।' मैं हँसने लगा।" कहने का अभिप्राय यह कि तब वे जो इच्छा होती, वही करते, आगे-पीछे का कुछ नहीं सोचते।

उसके बाद उन्होंने एक बात का उल्लेख किया, "कैसी अनोखी अवस्था थी। कुँवर सिंह ने साधुओं को भोजन कराना चाहा, मुझे भी न्योता दिया। जाकर देखा बहुत-से

साधु आये हैं । मेरे बैठने पर साधुओं में से कोई कोई मेरा परिचय पूछने लगे, 'आप गिरी हैं या पुरी?' पर ज्योंही उन्होंने पूछा, त्योंही मैं अलग जाकर बैठा । सोचा कि इतनी खबर काहे की? बाद को ज्योंही पत्तल लगाकर भोजन के लिए बिठाया, किसी के कुछ कहने के पहले ही मैंने खाना शुरू कर दिया । साधुओं में से किसी किसी को कहते सुना, 'अरे यह क्या'!'' साधु लोग सामान्यत: भोजन के पूर्व यह मंत्र बोलते हैं –

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना ।। (गीता ४/२४)

उसके बाद 'हरि: ॐ तत् सत्' कहकर खाना आरम्भ करते हैं । किन्तु ठाकुर इन सब विधियों की धारा को पकड़कर नहीं चलते, मंत्रोच्चारण किए बिना ही खाना शुरू कर दिया । विधि-निषेध सामान्य मनुष्यों के लिए है, लोकोत्तर मनुष्य के लिए नहीं । इसका अर्थ यह नहीं कि वे विधि-विरुद्ध या निषिद्ध आचरण करते हैं । इसलिए नहीं कि विधि में ऐसा विधान है, बल्कि स्वाभाविक भाव से ही वे विधि के अनुसार कार्य करते हैं । वे जो निषिद्ध कार्य का अनुष्ठान नहीं करते, इसका कारण यह हैं कि उनके मन में सहज भाव से ही वैसे कार्य का विचार नहीं आता । अत: वे स्वयं विधि-निषेध का अनुसरण नहीं करते, अपितु विधि-निषेध ही उनका अनुसरण करके चलते हैं । जिन्होंने ब्रह्म की उपलब्धि की है, उन्हीं के लिए ऐसा आचरण सम्भव हैं । इसीलिए साधु लोग यह देखकर विस्मित हो रहे हैं कि ठाकुर विधि-नियम नहीं जानते ।

एक बार ठाकुर स्वयं एक साधु का दर्शन करने गये । बातचीत खूब जमी थी कि सहसा वे समाधिस्थ हो गये । साधु बोले, ''अरे, यह क्या? पहले आसन जमा लो, फिर समाधि लगाओ ।'' क्योंकि साधु जानते हैं कि नियम यही है – पहले आसन फिर समाधि । गतानुगतिक मार्ग से चलना होता है । पर ठाकुर का मन लीक का अनुसरण करते हुए नहीं चलता । जो समाधि दूसरों को बड़ी लम्बी साधना के द्वारा प्राप्त होती है, वह ठाकुर के लिए स्वाभाविक अवस्था है, वे साधु इस बात को भला कैसे समझते?

ईश्वर ही कर्ता हैं

उसके बाद हाजरा से कहते हैं – ''हाँ, यह सोचने से सब गड़बड़ मिट जाती है – वे ही आस्तिक हैं, वे ही नास्तिक; वे ही भले हैं, वे ही बुरे; वे ही नित्य वस्तु हैं, वे ही अनित्य जगत; जाग्रत और निद्रा उन्हीं की अवस्थाएँ हैं; फिर वे ही इन सारी अवस्थाओं से परे भी हैं ।'' इस तत्त्व में स्थित रहने पर सारी गड़बड़ मिट जाती है । जब तक हम इस माया के राज्य में हैं, पार्थक्य-बोध करते हैं, द्वैतबुद्धि बनी हुई है, तब तक हमें पूरा हिसाब नहीं मिलता । तरह-तरह के प्रश्न उठते हैं । भगवान ने इस जगत की सृष्टि क्यों की, किसी को अच्छा और किसी को बुरा क्यों बनाया? यदि इसे कर्म का फल कहें, तो भला उन्होंने कर्मफल ही क्यों बनाया? यदि उन्होंने सब कुछ बनाया, वे ही सबके स्रष्टा हैं, तो फिर उन्होंने मनुष्य को इस गूढ़ कर्म के बन्धन में क्यों बाँधा? इन प्रश्नों का कोई समुचित उत्तर नहीं मिलता । जिसका जैसा विश्वास है, वह वैसी ही धारणा बना लेता है । परन्तु स्पष्ट रूप से कोई भी नहीं कह सकता कि उन्होंने ऐसा क्यों किया और क्यों कर

रहे हैं? अत: यदि एक वाक्य में कहे तो उनकी लीला अचिन्त्य है, उनको समझना हमारे बस की बात नहीं । इस कारण यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है । ठाकुर कहते हैं, "सारे प्रश्न समाप्त हो जाते हैं, यदि यह समझ में आ जाय कि सब वे ही हैं ।" यदि वे ही सब कुछ हैं, तो फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि उन्होंने अच्छा-बुरा क्यों बनाया। जब वे स्वयं सब कुछ बने हुए हैं, तो फिर किसका अच्छा और किसका बुरा?

इसके बाद वे बोले, "ईश्वर ही कर्ता हैं, उन्हीं की इच्छा से सब कुछ हो रहा है ।" किन्तु उनकी इच्छा को हम समझ नहीं पाते । जब तक हम अपनी इच्छा को भगवान की इच्छा से पृथक रूप में अनुभव करते हैं, जब तक हमने स्वयं को एक सीमित दायरे के भीतर बाँध रखा है, तब तक भगवान की इच्छा को समझ पाना हमारे बस की बात नहीं। अत: हम ठाकुर के कथन का अभिप्राय समझ नहीं पाते । और इसीलिए हाजरा बोले, "पर यह समझना बड़ा कठिन है । भू-कैलास के साधु को कितना कष्ट दिया गया, जो एक तरह से उनकी मृत्यु का कारण हुआ । वे समाधि की हालत में मिले थे । होश में लाने के लिए लोगों ने उन्हें कभी जमीन में गाड़ा, कभी जल में डुबोया और कभी उनका शरीर दाग दिया । इस तरह उन्हें चैतन्य कराया । इन यन्त्रणाओं के कारण उनका शरीर छूट गया । लोगों ने उन्हें कष्ट भी दिया और इधर ईश्वर की इच्छा से उनकी मृत्यु भी हुई ।" अब यहाँ पर दो कारण दिखाई देते हैं । एक तो यह कि लोगों के द्वारा उन्हें कष्ट देने के कारण उनका देहान्त हो गया अथवा दूसरा यह कि ईश्वर की इच्छा से यह सब कर्म हुआ । इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर की इच्छा से ही उनकी मृत्यु हुई, पर कोई कह नहीं सकता कि कौन-सा कारण सही है ।

ईश्वरप्राप्ति ही देहधारण का उद्देश्य है

ठाकुर ने इस प्रसंग में एक बात और कही – "जिसका जैसा कर्म है, उसका फल वह पायेगा ।" तो फिर यह क्यों कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से उन साधु का देहत्याग हुआ? इसलिए कि देह एक यन्त्र है । इसके द्वारा कर्म करने के लिए हम इस यन्त्र को धारण करते हैं । मिट्टी खोदने के लिए हम कुदाल बनाते हैं । खुदाई का काम हो जाने के बाद उस कुदाल की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती । ठाकुर ने उपमा दी है – कुँआ खोदने के लिए टोकनी तथा कुदाल की आवश्यकता होती हैं । कुँआ खुद जाने के बाद चाहे तो कोई टोकनी-कुदाल को फेंक दे सकता है, और कोई कोई उसे रख देते हैं कि शायद किसी के काम आ जाय । उसी तरह से देह भी एक यंत्र है । आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए ही देह की आवश्यकता है । इस काम के पूरा हो जाने पर फिर उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती । आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद यह रहे या चला जाय, इससे कुछ फरक नहीं पड़ता । ठाकुर एक और उपमा देते हैं – "वैद्य बोतल के अन्दर मकरध्वज तैयार करते हैं । उसके चारों ओर मिट्टी लीपकर वे उसे आग में रख देते हैं । बोतल के अन्दर का सोना आग की गर्मी से और कई चीजों के साथ मिलकर मकरध्वज बन जाता है । तब वैद्य बोतल को उठाकर उसे धीरे-धीरे तोड़ता है और उससे मकरध्वज निकालकर रख लेता है । उस समय बोतल रहे चाहे नष्ट हो जाय, उससे क्या? उसी

तरह लोग सोचते हैं कि साधु मार डाले गये, पर शायद उनकी चीज बन चुकी होगी। भगवान का लाभ होने के बाद शरीर रहे भी तो क्या, और जाय भी तो क्या?"

अवतार का प्रयोजन

इसके बाद वे कहते हैं, "समाधि अनेक प्रकार की होती है। ऋषीकेश के साधु के कथन से मेरी अवस्था मिल गयी थी। कभी शरीर में चींटी की तरह वायु चलती हुई जान पड़ती है; कभी बड़े वेग के साथ, जैसे बन्दर एक डाल से दूसरी डाल पर कूदते हैं; कभी मछली की तरह गति होती है। जिसको हो वही जान सकता है। जगत का ख्याल जाता रहता है। मन के कुछ उतरने पर मैं कहता हूँ, 'माँ, मुझे अच्छा कर दो, मैं बातें करना चाहता हूँ'।" अच्छा कर दो अर्थात मैं बोल सकूँ ऐसी अवस्था में रखो। वे लोगों से बातें क्यों करना चाहते हैं? इसलिए कि वे आत्मस्थ होकर रहने के लिए तो आए नहीं हैं। वे तो जगत को भगवत्कथा सुनाने के लिए, तत्त्वज्ञान का मार्ग दिखाने के लिए आए हैं। इसीलिए समाधिस्थ होकर नहीं रहना चाहते। वे सबके समक्ष उस मार्ग को खोल देना चाहते हैं, इसलिए कहते हैं, "माँ, मुझे अच्छा कर दो।"

उसके बाद कहते हैं, "ईश्वरकोटि जैसे अवतार आदि, न होने पर कोई समाधि से नहीं लौट सकता। जीवकोटि के कोई कोई साधना के बल सें समाधिस्थ होते तो हैं; पर वे फिर नहीं लौटते। जब ईश्वर स्वयं मनुष्य होकर आते हैं; अवतार रूप में आते हैं और जीवों की मुक्ति की चाभी उनके हाथ में रहती है, तब समाधि के बाद लौटते हैं – लोगों के कल्याण के लिए।" अवतार यदि स्वयं आकर वह मार्ग न दिखा दें, तो भला और कौन दिखाएगा? यह बात शास्त्र में लिखी हुई है, परन्तु जब तक अवतार स्वयं अपने जीवन के द्वारा इसका मर्म को समझा न दें, तब तक लोग इसे समझ नहीं सकते।

इस पर हाजरा कहते हैं, "ईश्वर को सन्तुष्ट करने से ही सब कुछ हुआ। अवतार हों या न हों।" अर्थात ईश्वर हैं, तो फिर एक मध्यवर्ती पुरुष के आने की आवश्यकता क्या है? ठाकुर हँसते हुए कहते हैं, "हाँ, हाँ। विष्णुपुर में रजिस्टरी का बड़ा दफ्तर है, वहाँ रजिस्टरी हो जाने पर फिर गोघाट में कोई बखेड़ा नहीं होता।" यदि उसके साथ सम्पर्क हो तो फिर और किसी अवतार की आवश्यकता नहीं रह जाती। बात तो ठीक ही है, परन्तु उनसे सम्पर्क साधना कोई आसान बात नहीं है, अत: जीव के साथ ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ने के लिए अवतार की आवश्यकता है। विष्णुपुर एक महकमा है और गोघाट एक थाना है। गोघाट छोटी अदालत है, विष्णुपुर उससे बड़ी अदालत है और जिले का मुख्यालय बाँकुड़ा उससे भी बड़ी अदालत है। इसीलिए ठाकुर कहते हैं कि विष्णुपुर में रजिस्ट्री हो जाने पर, फिर कोई गड़बड़ी नहीं रह जाती।

इसके बाद 'वचनामृत'कार लिखते हैं – "आज अमावस्या है। संध्या हुई, ... श्रीरामकृष्ण सहज ही भावमय हो रहे हैं।" अमावस्या की रात को ठाकुर के मन में विशेष भाव का उदय हो रहा है। इसी को काल-माहात्म्य कहते हैं। हम लोग साधारण दृष्टि से जिस बात को समझ नहीं सकते, ठाकुर के एक सूक्ष्म यंत्र के समान शुद्ध-पवित्र मन में ये माहात्म्य प्रस्फुटित हो उठते हैं। वैसे ही ठाकुर जिन जिन विशेष स्थानों को

गये, वहाँ पहुँचते ही उनके अन्तःकरण में उन उन स्थानों के घनीभूत भगवद्-भावों का स्फुरण तथा अनुभूति होने लगती थी। ठाकुर के जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस माहात्म्य को सभी लोग अनुभव नहीं कर पाते, परन्तु जो ऐसी सूक्ष्म अनुभूतियों से युक्त हैं, उनमें इस तरह का भावान्तर होता है।

कहते हैं कि वृन्दावन में श्रीकृष्ण के सारे लीलास्थल लुप्त हो गये थे। चैतन्यदेव वहाँ एक एक स्थान पर जाते और उनमें एक एक भाव का उदय होने लगता। वृन्दावन का लुप्त गौरव, उसकी सब प्राचीन कथाएँ मानो उनके भीतर जाग उठीं। इसी से पुनः उन लीलास्थलों का पुनरुद्धार हुआ। यह कोई पुरातात्त्विक शोध का विषय नहीं, बल्कि सूक्ष्म अनुभूति का विषय है। यह अनुभूति सूक्ष्म मन के बिना नहीं होती। ठाकुर के जीवन में भी देखने में आया है उनके जाने या अनजाने भी जैसे ही दुर्गापूजा का संधिक्षण आया, वे समाधिस्थ हो गये। सम्भव है कि सामान्य लोगों के मन में यह क्षण कोई असर न करे, पर शुद्ध मन में समय के साथ ही समयोचित भाव जाग उठता है।

ठाकुर मास्टर महाशय से कहते हैं, "देखो, ईश्वर के दर्शन होते हैं।" अर्थात ईश्वर केवल एक सिद्धान्त-मात्र नहीं हैं। केवल बुद्धि की सहायता से इस जगत को देखकर इसके स्रष्टा का अनुमान कर लेना या शास्त्र पढ़कर ईश्वर को जान लेना-मात्र नहीं है। ठाकुर कहते हैं, "जैसे हम मनुष्य को देखते हैं, ठीक उसी तरह से मैंने साक्षात ईश्वर का दर्शन किया है।" जब नरेन्द्रनाथ कहते हैं – आप जो देखते हैं, वह सब आपके मन की कल्पना है। तो इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं, "अरे, यह क्या रे, मैंने जो अपनी आँखों से देखा है, उनसे बातें की हैं।" नरेन्द्र कहते हैं, "वैसा होता है।" ठाकुर ने नरेन्द्र के साथ तर्क नहीं किया। वे समझते हैं कि यहाँ तर्क करना व्यर्थ है। केवल इतना ही कहा कि माँ जब समझायेगी, तब समझेगा। जब मन इस अनुभूति के उपयुक्त होगा, तब वह भीतर से अपने आप आएगी। तर्क के द्वारा उसे क्या समझोगे? बड़े बड़े पण्डित भी यहाँ आकर दिग्भ्रान्त हो जाते हैं। कोई कहते हैं कि वे हैं और कोई कहते है, नहीं हैं।

योगदर्शन ने कहा कि ईश्वर नहीं हैं क्योंकि उनके होने का कोई प्रमाण नहीं है। जिस वस्तु को हम देख नहीं पा रहे हैं, अनुभव नहीं कर पा रहे हैं, उसके लिए हम यह कैसे कह सकते हैं कि वह है। दार्शनिकों का एक नियम है – किसी वस्तु का दिखाई देना ही उसके होने का प्रमाण है। लैटिन में कहते हैं esse est percipi, जिसका अर्थ है – किसी वस्तु के होने का प्रमाण है उसका अनुभव होना। ठाकुर कहते हैं, "यदि किसी को स्थूल दृष्टि से यह अनुभव न हो, तो क्या इस कारण उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है?" हम समझते हैं कि हम नहीं देख रहे हैं, इसलिए नहीं है, परन्तु ठाकुर कहते हैं – मैंने देखा है। ऐसी बात नहीं कि केवल आभास हुआ हो, बल्कि साक्षात देखा है। ठाकुर के सामने यह केवल एक सिद्धान्त-मात्र नहीं है, साक्षात अनुभव की हुई वस्तु है।

इसके बाद मास्टर महाशय के विश्वास को सुदृढ़ करने हेतु वे कहते हैं, "अमुक को दर्शन मिले हैं।" यदि कई लोगों को दर्शन होता है, तब तो लगता है कि शायद होगा। शायद अर्थात मन में कम-से-कम सम्भावना का भाव तो अवश्य रहेगा।

इसके बाद वे पूछते हैं, "अच्छा, तुम्हें ईश्वर का साकार-रूप पसन्द है या निराकार का चिन्तन?" मास्टर महाशय ब्राह्मसमाज से जुड़े हुए थे। परन्तु ठाकुर के सान्निध्य में उनका एकांगीपना कम होता जा रहा है। इसीलिए वे कहते हैं, "इस समय तो निराकार-चिन्तन अच्छा लगता है, परन्तु यह भी कुछ कुछ समझ में आया है कि वे ही साकार हो इन अनेक रूपों में विराजते हैं।" अर्थात जो निराकार हैं, वे ही साकार हैं।

सच्चिदानन्द सागर में आत्मारूप मीन

मास्टर महाशय के निराकार भाव की बात सुनकर अब ठाकुर कहते हैं, "देखो, मुझे गाड़ी पर बेलघरिया में मोती शील की झील को ले चलोगे? वहाँ चारा फेंक दो, मछलियाँ आकर उसे खाने लगेंगी। अहा! मछलियों को खेलती हुई देखकर क्या आनन्द होता है! तुम्हें उद्दीपना होगी कि मानो सच्चिदानन्दरूपी सागर में आत्मारूपी मछली खेल रही है।" उन्होंने और भी उपमा दी है। एक कलशी जल में डूबी हुई है। कलशी के भीतर भी जल है और बाहर भी। जो जल भीतर है, वही बाहर भी। केवल बीच में कलशी एक आवरण-मात्र है। ठीक वैसे ही सच्चिदानन्द सागर में मीनरूपी जीव अपनी सीमित सत्ता को लिए हुए घूम-फिर रहा है, क्रीड़ा कर रहा है। भीतर मानो स्वयं को थोड़ा पृथक समझता है। वास्तव में उस असीम जलाशय में केवल एक बिन्दु-मात्र, एक क्षुद्र अंश-मात्र है। फिर भी वह अंश विराट से भिन्न नहीं है। उन्होंने और एक बात कही। खूब विस्तृत मैदान में खड़े होने पर ईश्वरीय भाव, अनन्त भाव का उद्दीपन होता है। यद्यपि ऐसा सबको नहीं, अपितु ठाकुर के समान लोकोत्तर पुरुषों को ही होता है।

साधना और सिद्धि

उसके बाद उन्होंने कहा, "उनके दर्शन के लिए साधना चाहिए। मुझे कठोर साधनाएँ करनी पड़ीं। बिल्ववृक्ष के नीचे पड़ा रहता था – यह कहते हुए कि माँ, दर्शन दो। रोते रोते आँसुओं की झड़ी लग जाती थी।" यह सब बातें वे क्यों कह रहे हैं? क्योंकि मनुष्य उनको देख नहीं पा रहा है, इसलिए सोचता है कि वे नहीं हैं। किन्तु उन्हें देखने के लिए साधना की आवश्यकता है। यही साधना वह उपाय है, जिसके द्वारा मनरूपी यंत्र उनको अनुभव करने में सक्षम होगा। अन्यथा इस सूक्ष्म वस्तु को समझा नहीं जा सकता। ईश्वर कोई ऐसी सूक्ष्म वस्तु नहीं है, जिसे माइक्रोस्कोप के द्वारा देखा जा सके। वह शुद्ध-स्वच्छ वस्तु है। उसके भीतर कोई रूप नहीं, रस नहीं, कोई जाति नहीं, गुण नहीं, क्रिया नहीं। किसी वस्तु को समझने के लिए जाति-गुण-क्रिया – ये तीन आधार हैं, जिनके द्वारा उसे समझा जाता है। किसी वस्तु को समझने के लिए उसके सहधर्मियों के साथ तुलना करके जाना जाता है कि यह अमुक वस्तु है। जैसे एक वृक्ष को दिखाकर कहा जाता है कि यह वृक्ष है। वृक्ष कहने पर वहाँ जितने वृक्ष हैं, उनमें से एक है, ऐसा समझा जाता है। वे एक हैं, अद्वितीय हैं, उनके तो सहधर्मी कोई नहीं, अत: उनकी कोई जौति नहीं है। और एक उपाय है, गुण के द्वारा समझना। लाल-नीले रंग के द्वारा वस्तु को समझा जाता है। किन्तु उनमें कोई गुण नहीं है। अत: गुण के द्वारा उन्हें समझा नहीं जा सकता। और एक उपाय है – क्रिया के द्वारा वस्तु को समझा जाता है। जैसे, जो

रसोई बनाता हैं, वह रसोइया है, जो गाना गाता है, वह गायक है । भगवान की कोई क्रिया नहीं है । फिर भी हम इस जगत को देखकर कहते हैं कि इस जगत की उन्होंने सृष्टि की है । वास्तव में हम उनके ऊपर इस सृष्टि के कर्तृत्व का आरोप करके ऐसा कहते हैं । उन्होंने सृष्टि कब की यह तो हमने देखा नहीं; और किसने की है, यह भी हम नहीं जानते । जानने का कोई उपाय भी नहीं है । जानने के लिए सृष्टि के पहले देखना था कि किसने किया । एक घड़े को देखकर यह समझा नहीं जा सकता कि इसे किसने बनाया । यदि हम किसी कुम्हार को घड़ा बनाते देख लें, तो समझ सकेंगे कि इस घड़े को कुम्हार ने बनाया । इसी प्रकार इस सृष्टि को किसने बनाया, यह जानने के लिए सृष्टि के पूर्व की अवस्था में जाना होगा, जो सम्भव नहीं है । क्योंकि मैं स्वयं भी इस सृष्टि के अन्तर्गत एक वस्तु हूँ । अत: जो इस सृष्टि के कर्ता हैं, उनको हम कभी समझ नहीं सकेंगे । जिनमें कोई क्रिया ही न हो, उन्हें हम कैसे पहचानेंगे?

ऐसी जो वस्तु है, उसे जानने के लिए साधना की आवश्यकता है, क्योंकि साधना के द्वारा मन शुद्ध होता है और वे शुद्ध मन के गोचर हैं । यही बात शास्त्रों ने और ठाकुर ने भी कही है । अत: इस शुद्ध मन को पाने के लिए साधना करनी होगी । ठाकुर कहते हैं, "मुझे कठोर साधनाएँ करनी पड़ीं ।" उनका ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि तुम भी करो, तुम्हारा मन भी इसी तरह शुद्ध होगा । उसके बाद ठाकुर ने एक बड़ा आश्वासन दिया है, "अमृत कहता है, एक आदमी के आग जलाने पर दस आदमी उसके ताप से लाभ उठाते हैं ।" अर्थात अब हर व्यक्ति को ठाकुर के समान साधना नहीं करनी होगी । क्यों नहीं करनी होगी? इसलिए कि अपनी साधना के द्वारा उन्होंने वस्तु को तो प्रमाणित ही कर दिया है । अब दूसरे लोग यदि उन पर श्रद्धा रखते हुए उनकी साधनाओं की सत्यता पर विश्वास करें, तो फिर साधना करने से जो लाभ होता है, वही लाभ ठाकुर पर श्रद्धा रखकर उनका दर्शन करने से भी होगा । इसलिए कहते हैं कि एक व्यक्ति आग जलाता है, तो दस लोग उसके ताप से लाभ उठाते हैं ।

श्रद्धा और सिद्धि-लाभ

जो ठाकुर के प्रति श्रद्धावान होगा, उसे उनकी साधनलब्ध सम्पदा की प्राप्ति होगी । इसे पाने के लिए केवल – 'उनके प्रति श्रद्धा' – इतना ही मूल्य देना होगा । श्रद्धा होने पर, जब विश्वास होगा कि ईश्वर सत्य हैं, तब उनकी साधना तथा उसके फलस्वरूप होनेवाली उपलब्धि की सत्यता पर भी विश्वास होगा । यह हुआ – बिना साधना के वस्तुलाभ । ऐसा लग सकता है कि तब तो यह बड़ा सरल है, उनके साधन कर लेने पर हमारा भी साधन हो गया । किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह श्रद्धा बड़ी दुर्लभ वस्तु है । भक्ति करना सहज है पर ठाकुर के प्रति सच्ची श्रद्धा हो पाना सहज नहीं है ।

गुरु शिष्य को तरह तरह की उपमा देकर समझाते हैं, लेकिन शिष्य कहता है – और कहिए अर्थात गुरु का उपदेश शिष्य के मन में बैठ नहीं रहा है । इसी तरह दो-चार उपमा देने के बाद गुरु कहते हैं – "**वत्स, श्रद्धस्व**" – बेटा, श्रद्धावान बनो । श्रद्धा न होने पर केवल बुद्धि के द्वारा तर्क की सहायता से समझ नहीं सकोगे । हजार उपमा देने पर भी

नहीं समझ सकोगे । और यदि श्रद्धा हो, तो एक बात में ही धारणा हो जायेगी । यह जो वस्तु का साक्षात्कार करने के लिए ठाकुर की साधना है, वह उनके स्वयं के लिए नहीं है, स्वयं के लिए तो उन्हें कोई आवश्यकता ही नहीं थी । वह साधनलब्ध वस्तु को सबको सहज रूप से उपलब्ध कराने के लिए ही उनकी साधना है । उन्होंने साधना करके वस्तु को प्रमाणित कर दिया, अब दूसरे लोगों के द्वारा श्रद्धा की सहायता से उसे ग्रहण कर लेने पर उन्हें वस्तु प्राप्त हो जायेगी ।

अवतार का नित्य से लीला में अवतरण

अब यदि ठाकुर भी साधना करके पूर्ण ब्रह्मानुभूति में निमग्न बने रहते, तब तो वे भी असंख्य मुक्त जीवों में एक होते, अवतार के रूप में गण्य नहीं होते । जगत में अनेक व्यक्ति इस तरह की साधना के फल से मुक्त हुए हैं । ठाकुर के भी वैसा ही हो जाने से संसार के बद्ध जीवों का कोई कल्याण नहीं होता । इसलिए ठाकुर कहते हैं, "नित्य को पहुँचकर लीला में रहना अच्छा है ।" अर्थात साधक भगवान के निर्गुण-निर्विशेष रूप की अनुभूति करने के बाद इस सगुण-सविशेष रूप की भी अनुभूति करे, तभी वह दूसरों के कल्याण का यंत्र हो सकता है । इसीलिए ठाकुर केवल ब्रह्मानन्द में निमग्न नहीं रहे । वे उसके लिए नहीं आए थे । उन्होंने इस जगत के वैचित्र्य के भीतर सबके साथ रहकर, सर्वत्र सबमें भगवान का दर्शन करके तथा सबको दर्शन का उपाय दिखाकर अपने अवतार-ग्रहण के उद्देश्य को सार्थक किया । इसीलिए कहते हैं, "नित्य को पहुँचकर लीला में रहना अच्छा है ।" इससे बहुत-से लोगों का कल्याण होता है । मास्टर महाशय कहते हैं, "लीला-विलास के लिए है ।" विलास का अर्थ है – विभिन्न प्रकार से आनन्द का आस्वादन करना । परन्तु ब्रह्म यदि सर्व भावों के परे हो, तब तो विभिन्न प्रकार से उनका आस्वादन करने का तात्पर्य होगा कि वे काल्पनिक हैं, मिथ्या हैं । ठाकुर तत्काल कहते हैं, "नहीं, लीला भी सत्य है ।" अर्थात वह काल्पनिक या मिथ्या नहीं है । राजा का लड़का अपने विलास के लिए भिखारी का अभिनय करता है, परन्तु लीला इस तरह के विलास हेतु नहीं है । वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार इसे ऐसे ग्रहण किया जा सकता है कि वे स्वरूपतः निर्गुण हैं, परन्तु अपनी कल्पना से अनेक रूप धारणकर मानो अनेक हुए हैं । परन्तु ठाकुर कहते हैं, "नहीं, लीला भी सत्य है ।"

ईश्वर एक ओर जैसे निर्गुण, निराकार तथा निष्क्रिय हैं, वैसे ही दूसरी ओर वैचित्र्यमय भी हैं । भक्तिवादी कहते हैं कि उनका ऐश्वर्य तर्क के परे है । 'शिवमहिम्नस्तोत्र' में कहा गया है, "तुम्हारा ऐश्वर्य युक्ति और तर्क से अतीत है, बुद्धि की सीमा के परे है ।" हमारा यह अनुमान सही नहीं है कि ब्रह्म ही यदि एकमात्र सत्य हो, तो लीला मिथ्या होनी चाहिए । ठाकुर कहते हैं कि दोनों ही सत्य हैं । अब दो परस्पर-विरोधी वस्तुएँ भला कैसे सत्य हो सकती हैं? ठाकुर का उत्तर है, "अपनी इस छटाँक भर बुद्धि के द्वारा तुम कैसे जानोगे? वे क्या हो सकते हैं और क्या नहीं हो सकते, इसे तुम कैसे समझ सकोगे?" वे एक उपमा भी देते हैं, जिसमें बाइबिल के एक दृष्टान्त की ज़रा-सी झलक है । एक व्यक्ति कहता है, "आप भगवान के पास से आ रहे हैं, जरा बताइये तो वे क्या कर रहे

हैं?" उत्तर में उसने हँसते हुए कहा, "वे सुई के छेद से हाथी को पार कर रहे हैं ।" सुनकर वह हँसते हुए बोला, "झूठ, आप भगवान के पास गये ही नहीं ।" एक अन्य ने कहा, "हो भी सकता है, उनके लिए सब कुछ सम्भव है ।" यह हुई विश्वास की बात। लीला को जब सत्य कहा तो युक्ति नहीं, बल्कि अनुभूति की सहायता से कहा । ठाकुर की अनुभूति युक्ति की बँधी हुई लीक पर नहीं चलती । बँधी हुई लीक पर युक्ति तब सार्थक होती है, जब हम जागतिक विषय को लेकर युक्ति दिखाते हैं । परन्तु जब हम जगत से अतीत वस्तु को लेकर विचार करते हैं, तब यह अनुमान वहाँ अचल हो जाता है । तर्क से अगम्य जो वस्तु है, उस पर तर्क का प्रयोग करने पर तर्क काम नहीं करता, अत: तर्क का वहाँ कोई स्थान नहीं । लीला और ब्रह्म – भला दोनों सत्य कैसे होंगे? इसका उत्तर है कि जो इसके पार गये हैं, वे कह सकते हैं । वे यदि कहें कि दोनों सत्य हो सकते हैं, तो हमें सिर झुकाकर स्वीकार कर लेना होगा कि ऐसा हो सकता है ।

ठाकुर कहते है, "लीला सत्य है ।" इस पर मास्टर महाशय ने कहा, "लीला-विलास के लिए है ।" ठाकुर तत्काल प्रतिवाद करते हुए कहते हैं, "नहीं, लीला भी सत्य है ।" ठाकुर के इस सिद्धान्त के सन्दर्भ में कभी कभी हमें लगता है कि ठाकुर वस्तुत: वेदान्ती हैं, अद्वैत तत्त्व को मानते हैं और द्वैत को उन्होंने केवल उपाय के रूप में मान लिया है, उद्देश्य के रूप में नहीं । परन्तु बात ऐसी नहीं है । अपने मुख से वे जो कह रहे हैं, उसमें वे लीला को केवल उपाय के रूप में नहीं मानते, बल्कि अनुभव करके कहते हैं कि लीला भी सत्य है । इस कारण यह हमारे बस की बात नहीं कि हम उनकी इस अनुभूति को युक्ति के द्वारा काट सकें । अनुभव को युक्ति के द्वारा नहीं काटा जा सकता । हम चाहे जितने भी बड़े दार्शनिक, शास्त्रज्ञ अथवा बुद्धिवादी हों, हमें यह बात याद रखनी होगी कि युक्ति ही अनुभव का अनुसरण करती है, अनुभव युक्ति का अनुसरण नहीं करता । अत: वे जब अतीन्द्रिय तत्त्व की उपलब्धि करके कहते हैं कि 'लीला सत्य है', तो उसे मानना ही पड़ेगा ।

सेवा और सिद्धि

ठाकुर सहसा एक बात कहते हैं, "और देखो, जब यहाँ आओगे, अपने साथ थोड़ा कुछ लेते आना । अधर सेन से भी कहता हूँ, एक पैसे का कुछ लेकर आना । भवनाथ से कहता हूँ कि एक पैसे का पान लाना ।" वे ऐसा क्यों कहते हैं? ठाकुर को क्या कोई बड़ा अभाव था, जो वे इन छोटी-मोटी चीजों की अपेक्षा कर रहे हैं । जो सर्व कामनाओं से रहित हैं, उनके मुख से ऐसी बातें क्यों निकलीं? वे मास्टर महाशय को सिखा रहें हैं कि तत्त्व का अनुभव करने के लिए केवल बुद्धि ही यथेष्ट नहीं है, सेवा भी चाहिए ।

सेवा के लिए काफी धन की आवश्यकता हो, ऐसी बात नहीं, केवल अनुभव की ज़रूरत है । यह सेवा यदि हो, तो जिनसे हम तत्त्व को जानना चाहते हैं, उनके साथ हमारा एक आन्तरिक योग हो जाता है । इसी संयोग के फलस्वरूप उन महान व्यक्ति में जो उच्च भाव हैं, वे क्रमश: हममें भी संक्रमित होंगे । सेवा का यही फल है । गीता (४/३४) में तीन बातें कही गई हैं – **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया** – प्रणिपात,

परिप्रश्न और सेवा । पहली बात कि विनीत होना पड़ेगा । दूसरी बात यह कि जिज्ञासु होना चाहिए और तीसरी बात कही कि सेवापरायण होना होगा । ये तीन बातें अगर नहीं हैं, तो तत्त्व की अनुभूति नहीं होती । यह कोई लौकिक ज्ञान तो है नहीं कि फीस देकर हमने एक कोर्स कर लिया और वह विद्या हमें ज्ञात हो गयी । तत्त्व को जानना हो तो सेवा के द्वारा गुरु से सम्बन्ध स्थापित करने के बाद उनसे उसकी प्राप्ति होती है, अन्यथा काम नहीं होगा । जो तत्त्वज्ञ हैं, वे उपदेश तो अवश्य देंगे, परन्तु केवल उपदेश से कुछ होता नहीं, ग्रहीता में जिज्ञासा भी होनी चाहिए, जानने की आकांक्षा होनी चाहिए । उसमें नम्रता और सेवापरायणता होनी चाहिए । यहाँ ठाकुर ने मास्टर महाशय से कहा, "मेरा पैर थोड़ा दर्द कर रहा है, जरा हाथ फेर दो ।" इस प्रकार वे उन्हें गुरुसेवा सिखा रहे हैं । मास्टर महाशय गुरुसेवा नहीं जानते ।

ठाकुर ने एक बात और कही, "ज्ञान और भक्ति – दोनों ही मार्ग हैं । भक्तिमार्ग में आचार कुछ अधिक पालन करना पड़ता है । ज्ञानमार्ग में यदि कोई अनाचार भी करे, तो वह मिट जाता है । खूब आग जलाकर एक केले का पेड़ भी झोंक दो, तो वह भस्म हो जाता है ।" आचार-विचार कहने पर इससे मुख्यतः लौकिक आचार-विचार को ही लिया जाता है; यथा शुद्ध वस्त्र पहनकर भगवान का चिन्तन करना या अशुद्ध आहार न करना । यह सभी के लिए बाध्यतामूलक या अवश्य-करणीय है । भक्तिमार्ग में बाह्य आचारों को भी मानना पड़ता है । ज्ञानी के लिए इन सबकी इतनी जरूरत नहीं है । ज्ञानी का विचार-पथ है । इस मार्ग में कभी कभी नास्तिक भाव आ जाता है । विचार करते करते जब बुद्धि कहीं थाह नहीं पाती, तब लगता है कि वह सब मिथ्या है । इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि उसका विचार जाग्रत है । कभी कभी भक्तों में भी नास्तिकता का भाव आता है, सन्देह आ जाता है, विश्वास मानो क्षीण हो जाता है, परन्तु दीर्घ काल का निरन्तर अभ्यास होने के कारण ऐसा भाव आने पर भी वह भक्ति को छोड़ता नहीं, पकड़े रहता है । चाहे हजार सूखा पड़े, परन्तु खानदानी किसान फसल न होने पर भी खेती करना नहीं छोड़ता ।

उपसंहार के रूप में 'वचनामृत'कार कहते हैं, "अहेतुक कृपासिन्धु गुरुदेव के कमल-चरणों की सेवा करते हुए, मणि उनके श्रीमुख से वे अपूर्व तत्त्व सुन रहे हैं ।" इसी को वेदध्वनि कहते हैं । वेद समस्त ज्ञान का भण्डार हैं । जब हम वेद से तत्त्व को जानने का प्रयास करते हैं, तब भी केवल शब्द-मात्र सुनते हैं । परन्तु तत्त्व को जब हम विशेष रूप से ईश्वरावतार के मुख से सुनते हैं, तब उनके शब्द केवल हमारी बुद्धि को ही आकृष्ट नहीं करते, अपितु हमारे अन्तःकरण में मानो ज्ञान का आलोक जगा देते हैं, हमारे हृदय में अनुभूति जगा देते हैं । यहाँ पर वेद कोई ग्रन्थ मात्र नहीं है, बल्कि ठाकुर स्वयं ज्ञान के मूर्तरूप – साक्षात वेद हैं । इसलिए वहाँ से जो प्रकाश आता है, वह हमारे अन्तर के समस्त अन्धकार को पूरी तौर से मिटा देता है । □ (क्रमशः) □

मानस-रोग (३०/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके तीसवें प्रवचन का उतरार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

महाराज दशरथ और कैकेयी का विवाह हुआ। विवाह के बाद जब महाराज दशरथ अयोध्या लौटने लगे तो एक बड़ी व्यंगात्मक बात आती है। महाराज कैकय को बड़ी चिन्ता हुई। जिसके मन में कर्तृत्व और कर्म-फलाकांक्षा है, ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को यही चिन्ता होती है, जो कैकयनरेश के मन में है। वह चिन्ता यह है कि मेरी बेटी भोली-भाली है, अयोध्यावाले कहीं इसे ठग न लें। इसलिए उन्होंने सोचा कि अपनी बेटी के साथ एक ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति को लगा दें, जो निरन्तर हमारी बेटी के स्वार्थ की चिन्ता करता रहे। तब उनको सबसे बुद्धिमान कौन मिला ? मन्थरा। उनको लगा कि यही सर्वाधिक बुद्धिमान है। कैकयनरेश ने उसको कैकेयी के साथ अयोध्या भेज दिया। सच तो यह है कि कैकेयी अगर अकेली ही अयोध्या चली गई होती, तो इतनी समस्या नहीं होती। समस्या तो तब उत्पन्न हुई जब कैकेयीजी के जीवन में फलाकांक्षा के साथ मन्थरा भी जुड़ गई।

मन्थरा के जुड़ जाने का अभिप्राय क्या है? मन्थरा वस्तुतः लोभवृत्ति है। फलाकांक्षा में तो केवल फल की आकांक्षा है, पर लोभ हो जाने पर चाहे जितना मिले, सन्तोष ही नहीं होता। अभिप्राय यह है कि जहाँ कर्म-फलाकांक्षा के साथ लोभ की वृत्ति जुड़ जाती है, वहाँ फलाकांक्षा का अतिरेक हो जाता है और उसका परिणाम वही होता है जो अयोध्या में हुआ। वह राम को वनवासी बना देता है, राम जीवन से दूर चले जाते हैं। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से कहें, तो इसका तात्पर्य यह है कि जब हमारे जीवन में कर्तृत्व आता है, फलाकांक्षा आती है, प्रलोभन आते हैं, तब हमारे जीवन से ईश्वर दूर चला जाता है। यही क्रिया की समस्या है। यही प्रत्येक कर्म करनेवाले की समस्या है। वह प्रत्येक व्यक्ति, जो क्रिया में आसक्त है, उसके जीवन में राम वनवासी हो गए हैं, ईश्वर उसके जीवन से दूर चला गया है। किन्तु इसे यदि व्यावहारिक अर्थों में देखें तो मन्थरा ने कैकेयी के मन में जिस तरह से भेद उत्पन्न किया, जिस तरह से उसे परिवर्तित किया, उसके मूल में कौन-सी वृत्ति है? वही ईर्ष्या, जिसकी चर्चा चल रही है। कैकेयीजी के जीवन में कहीं-न-कहीं यह वृत्ति सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। मन्थरा कैकेयी के अत्यन्त निकट रहती है। वह उसके अन्तःकरण में छिपी हुई इस वृत्ति को खूब पहचानती है। कैकेयी स्वयं अपने को उतना नहीं पहचानती, जितना कि मन्थरा। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि कैकेयीजी मन्थरा से इतना प्रभावित

कैसे हो गईं? वे बोले – पहले प्रभावित नहीं थी, पर बाद में मन्थरा ने उन्हें एक ऐसा मन्त्र दिया कि प्रभावित हो गईं और इतनी हो गईं कि उसको गुरु बना लिया, उससे दीक्षा ले ली। गुरु वशिष्ठ को छोड़कर उन्होंने मन्थरा से दीक्षा ले ली। ऐसी कौन-सी विशेषता है उसमें? गोस्वामीजी ने कहा कि मैं तो उसे एक ही उपाधि दूँगा –

कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई ॥ २/२७/६

करोड़ों कुटिलों में जो सबसे अधिक कुटिल है, वह कुटिलमणि मन्थरा है। यहाँ पर गोस्वामीजी ने कुटिलता को भी इस सन्दर्भ से जोड़ा है। मानस-रोग के सन्दर्भ में जहाँ वे ईर्ष्या को मन की खाज कहते हैं, वहीं कुटिलता को मन का कोढ़ कहते हैं –

ममता दादु कण्डु इरषाई।... कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥ ७/१२१/३३-३४

किसी कुष्ठरोगी को यदि खाज का रोग हो जाय, तो उसकी भयंकरता की भला क्या कल्पना हो सकती है! इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी विनयपत्रिका में भगवान से कहते हैं – महाराज, मेरी तो ऐसी दशा हो गई है मानो किसी को कोढ़ हुआ हो और ऊपर से खाज हो जाए –

नीच जन, मन ऊँच जैसे कोढ़ में की खाजु। (२१९)

अभिप्राय यह है कि ईर्ष्या की वृत्ति के साथ यदि कुटिलता की वृत्ति मिल जाय, तो इसमें निःसन्देह वह कोढ़ में खाज जैसी ही बड़ी भयावह तथा असाध्य स्थिति होगी। कैकेयीजी कुटिल तो बिल्कुल भी नहीं हैं। उनमें ममता है, सात्त्विक ईर्ष्या भी है, परन्तु उनका स्वभाव सरल है। लेकिन अन्त में वे जिसके वश में हो गईं, वह मन्थरा तो 'कोटि कुटिलमणि' है। उसने अपनी कुटिलता को कैकेयीजी के अन्तःकरण में पैठा दिया। कैकेयीजी के अन्तःकरण में कहीं न कहीं छिपी हुई सात्त्विक ईर्ष्या की वृत्ति थी, जिसका ज्ञान स्वयं कैकेयीजी को भी न था, परन्तु इस कुटिला ने उनके अत्यन्त निकट रहकर उनके अन्तःकरण में झाँककर देख लिया था कि वहाँ एक कोने में ईर्ष्या दबी हुई है। यद्यपि वह ईर्ष्या सात्त्विक थी और उसे कोई बहुत बड़ा दोष नहीं माना जाता। लेकिन मन्थरा निराश नहीं हुई। उसने इस सात्त्विक ईर्ष्या में भी अपनी कुटिलता का विष घोलकर उसे विषाक्त कर दिया, उसका दुरुपयोग किया। मन्थरा ने आकर जब कैकेयी को यह समाचार दिया कि कल राम को राज्य दिया जा रहा है, तो कैकेयीजी प्रसन्न हो गईं। बोलीं – इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात और क्या होगी? तुमने यह सुन्दर समाचार सुनाया, 'बोलो क्या चाहती हो, आज तुम जो माँगोगी, वही दूँगी।' मन्थरा को तो इस पर निराश हो जाना था, परन्तु वह निराश नहीं हुई। उसने कैकेयीजी से पूछ लिया, 'क्या राम को आप इतना चाहती हैं?' कैकेयीजी ने बड़े उत्साहपूर्वक कहा, 'मन्थरा, मैं राम को इतना चाहती हूँ कि पूजा करने के बाद ब्रह्मा से प्रार्थना करती हूँ, वर माँगती हूँ –

जौ बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पुतोहू ॥ २/१५/७

– अगर ब्रह्मा मुझे पुनः जन्म दें, तो राम मेरे पुत्र और सीता मेरी बहू रहें। सुनने में यह बात कितनी साधी-सादी भावुकता प्रतीत होती है, परन्तु यदि आप ध्यान से देखें तो इस

भावुकता के मूल में एक उत्कृष्ट प्रकार की ईर्ष्या विद्यमान है। मन्थरा ने पूछा था, आप राम को इतना क्यों चाहती हैं? उन्होंने कहा –

कौसल्या सम सब महतारी। रामहि सहज सुभायँ पिआरी ॥
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। २/१५/५-६

राम सभी माताओं से प्रेम करते हैं, पर मुझे सबसे अधिक चाहते हैं। परिणाम क्या हुआ? मन्थरा प्रसन्न हो गई। कैकेयी की माँग है कि राम भले ही सबको समान रूप से प्रेम करें, पर मुझे सबसे अधिक चाहें। मन्थरा ने कैकेयीजी से पूछा कि आपको यह कैसे पता चला कि राम आपको अधिक चाहते हैं ? कैकेयी ने तुरन्त कहा –

मैं करि प्रीति परीछा देखी ।।२/१५/६

मैंने परीक्षा करके देखा है। मन्थरा ने कहा, आप बिल्कुल ठीक कहती हैं, जब आपने परीक्षा ली थी तब वे सचमुच आपसे सर्वाधिक प्रेम करते थे। अब क्या हो गया? अब तो बात बिल्कुल बदल गई है। एक बार कभी आपने परीक्षा ली थी, लेकिन वह पुरानी बात है। राम अब वो राम नहीं रह गए। यद्यपि बात सत्य नहीं है, पर मन्थरा ऐसी युक्ति तथा तर्क के सहारे झूठ और सत्य को एक किए दे रही है कि उसकी चाल समझ पाना कठिन है। यही मन्थरा की चारित्रिक कुटिलता है और यहीं पर उसने कैकेयी के अन्तःकरण में छिपी हुई सात्विक ईर्ष्या के साथ अपनी इस दुष्टतापूर्ण कुटिलता को मिलाकर एक कर दिया है।

सात्विक ईर्ष्या का क्या अर्थ है ? कैकेयीजी जो कहती हैं कि अगले जन्म में राम मेरा पुत्र और सीता मेरी बहू बने, तो इस भावना के मूल में क्या है? मन्थरा पूछती है कि जब आप स्वयं कह रही हैं कि राम अपनी माँ से भी अधिक मुझे चाहते हैं, तो फिर आप यह क्यों चाहती हैं कि राम मेरा पुत्र बनें। आपका पुत्र होकर राम किसी अन्य को आपसे अधिक चाहे, यह क्या आप सहन कर सकेंगी? आपको तो इस बात पर प्रसन्न होना चाहिए कि राम आपको सबसे अधिक सम्मान देते हैं। कैकेयीजी के अन्तःकरण में छिपी हुई एक सूक्ष्म ईर्ष्या की वृत्ति थी। उनके मन से अगर कोई पूछे तो वह यही कहेगी कि हाँ, यह बिल्कुल सच है कि राम मुझे सबसे अधिक चाहते हैं, मैं भी राम को बहुत चाहती हूँ, किन्तु राम को मेरा बेटा कोई नहीं कहता, सब तो उसे कौशल्या का ही बेटा कहते हैं। यही है वह सात्त्विक ईर्ष्या। यदि लोग राम को मेरा बेटा कहते, तो कितना अच्छा होता। बस इतनी-सी बात थी, जो एक सात्त्विक भावना से जुड़ी हुई है, परन्तु मन्थरा की कुटिलता ने उनके भीतर उस सात्त्विक ईर्ष्या को दूषित करके एक दुष्ट ईर्ष्या में रूपान्तरित कर दिया। मन्थरा ने कैकेयी के अन्तःकरण में ईर्ष्या जगाने के लिए कहा कि राम आपको पहले बहुत चाहते थे पर अब बदल गये हैं।

रहा प्रथम अब ते दिन बीते। २/१७/६

इसका उत्तर भगवान ने चित्रकूट में दिया। जब तीनों माताएँ आईं, तो वैसे मर्यादा के क्रम से उचित यह होता कि वे सबसे पहले माता कौशल्या को प्रणाम करते, पर तीनों माताओं को देखकर भगवान राम ने सबसे पहले प्रणाम किन्हें किया? किनसे मिले?

प्रथम राम भेंटी कैकेई । २/२४४/७

सबसे पहले वे कैकेयीजी के पास गए, प्रणाम किया और जब उनके हृदय से लग गए, तो कैकेयीजी की आँखों में ग्लानि के आँसू आ गए। सोचने लगीं – अरे, उस मन्थरा ने मुझे झूठी बातें कहकर बहका दिया था कि राम मुझे अपनी माता से अधिक नहीं चाहते। राम तो आज भी मुझे अपनी माता से अधिक चाहते हैं, अधिक सम्मान देते हैं। एक ओर जहाँ ईर्ष्या को जगाने का उपाय है, तो दूसरी ओर ईर्ष्यावृत्ति को मिटाने का भी उपाय है। दो पात्र हैं, एक ओर मन्थरा है और दूसरी ओर भगवान राम हैं। भगवान राम की धारणा क्या है ? वे चाहते हैं कि अयोध्या का राज्य भरत को मिले। क्यों? इसलिए कि बड़े को यदि राज्य देकर और बड़ा बनाया जाएगा तो छोटा और अधिक छोटा हो जाएगा। इससे समाज में ईर्ष्या और वैमनस्य फैलेगी। ऐसी स्थिति में रामराज्य नहीं बनेगा। गुरु वशिष्ठ जब कहते हैं – "राम, राजवंश की यह परम्परा है कि जो ज्येष्ठ होता है, वही सिंहासन पर बैठता है।" तो यह सुनकर श्रीराम प्रसन्न नहीं हुए कि यह परम्परा बहुत अच्छी है। वे कहते हैं – "नहीं नहीं, यह परम्परा तो बड़ी घातक है।" यदि विचार करके देखें तो वस्तुतः मूल समस्या यही है। यदि यह स्थिति न होती तो वैर-विरोध का अवसर ही न आता। न मन्थरा को अवसर मिलता और न कैकेयी को। भगवान राम की मूल धारणा यही है –

राम प्रताप विषमता खोई ॥ ७/२०/८

भगवान राम गुरु वशिष्ठ का प्रस्ताव सुनकर उदास भाव से विचार करते हैं –

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥ २/१०/५-७

– अरे, यह तो बड़ी अनुचित बात है कि राज्य छोटे को न देकर बड़े को दिया जाता है। इसके पीछे तर्क क्या है ? भगवान का तात्पर्य यह है कि बड़ा भाई तो वैसे भी बड़ा है, उसे राज्य दे दिया तो वह और भी बड़ा हो गया। छोटा भाई बेचारा पहले भी छोटा कहलाता था और अब, जब वह राजा के सामने पहुँचेगा, तो दोहरी हीनता का अनुभव करेगा। इसका परिणाम क्या होगा? क्या परिवार में, समाज में भाइयों के बीच परस्पर ईर्ष्या की वृत्ति नहीं आती ? ईर्ष्या केवल शत्रुओं के बीच ही नहीं; बल्कि समाज, परिवार और भाइयों में भी हो जाती है। एक ही परिवार में जन्म लेनेवाले और निकट-सम्बन्धियों के मन में भी ईर्ष्या की वृत्ति आ जाती है। 'मानस' में सती की कथा है। एक बार सतीजी अपने पिता के घर गईं। वहाँ उनकी बहनों ने उनकी ओर व्यंगभरी दृष्टि से मुस्कराकर देखा –

भगिनीं मिलीं बहुत मुसुकाता ॥ १/६३/२

सतीजी तो भगवान शंकर की पत्नी हैं, अतः उनका वेश भी तदनुरूप है। किन्तु उनकी बहनें राजसी ठाट-बाट में थीं। बहनों की व्यंगभरी मुस्कान देखकर उन्हें बड़ा क्रोध आया।

जद्यपि जग दारुन दुख नाना। सब तें कठिन जाति अवमाना ॥ १/६३/७

उनके मन में ईर्ष्या, प्रतिशोध और क्रोध की वृत्ति जाग उठी और वह तब तक शान्त

नहीं हुई, जब तक वे अपने पितासम्भूत शरीर को जला नहीं डालतीं। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान श्रीराम की इस बात को केवल भावुकता के सन्दर्भ में नहीं, व्यावहारिक सन्दर्भ में देखें तो उसका तात्पर्य यह है कि जब हम चारों भाई एक ही स्थिति में पले, खेले, पढ़े, तो बड़े को ही राजा बनाकर और बड़ा क्यों बनाना चाहिए? वह तो आयु में बड़ा है ही, अब छोटे को राज्य देकर बड़ा बनाना चाहिए, जिससे यह बड़े-छोटे का भेद कुछ कम हो। भाई, ईर्ष्या को मिटाने की सबसे बढ़िया दवा तो यही है। क्योंकि जो बड़ा है, यदि और बड़ा बनने की इच्छा करेगा, चेष्टा करेगा, तो स्वाभाविक ही छोटा और अधिक छोटा हो जाएगा। ऐसी स्थिति में छोटे के मन में ईर्ष्या तो होगी ही। किन्तु बड़े के मन में जब छोटे को बड़ा बनाने की वृत्ति आएगी, तब ईर्ष्या का प्रश्न ही नहीं उठेगा। भगवान राघवेन्द्र कहते हैं कि भरत यदि राजा हो जाए, तो कितना अच्छा हो। अब कोई यदि पूछे — महाराज, बड़े का पद छोटे को देने पर स्थिति क्या होगी? क्या यह उचित लगेगा? भगवान कहते हैं — बड़ा तो जन्म से ही बड़ा है और छोटा अब पद पाकर बड़ा हो जाएगा, दोनों बराबर हो गए, दोनों बड़े हो गए। छोटे-बड़े का भेद मिट गया। भेद बढ़ाना उचित है या मिटाना? किसी ने कहा — लोग जब सुनेंगे कि भरत राजा हो गए हैं, तो क्या कहेंगे? भगवान राम ने कहा — इससे अच्छी और क्या बात होगी! — क्यों ? — इसलिए कि अयोध्या का राजा होने पर मुझसे यदि कोई पूछेगा कि आप कौन हैं, तो मैं यही कहूँगा कि अयोध्या का राजा हूँ। लेकिन अयोध्या के सिंहासन पर यदि भरत बैठ जाएँ और मुझसे कोई परिचय पूछे, तो मैं यहीं कहूँगा कि मैं अयोध्या के राजा का बड़ा भाई हूँ। तो राजा होने में बड़प्पन है या राजा के बड़े भाई होने में? यह तो बड़े से भी बड़ा पद है। किन्तु ऐसा न होकर —

बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥२.१०.७

— इस विमल वंश में यही एक अनुचित परम्परा है कि छोटे को छोड़कर बड़े को राज्य दिया जाता है। भगवान श्रीराम को इस बात का बड़ा पछतावा हो रहा है। गोस्वामीजी भगवान के इस पछतावे को देखकर विभोर हो उठे और कहने लगे —

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।

- कितना सुन्दर है यह प्रभु का पछताना ! कैसी भाषा है गोस्वामीजी की ! क्या पछतावा भी सुन्दर हो सकता है? बोले — नहीं नहीं, यह कोई साधारण पछतावा नहीं, यह तो प्रभु का अत्यन्त सुन्दर पछतावा है। कैसे? बोले —

प्रभु सप्रेम पछतानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई ॥ २/१०/८

— प्रभु का यह सुन्दर पछतावा भक्तों के मन की कुटिलता का हरण कर लेता है। अभिप्राय यह है कि अगर किसी के मन में दूसरों के प्रति ईर्ष्या और कुटिलता की वृत्ति आ गई हो तो इस प्रसंग को पढ़कर उसके मन में लज्जा आनी चाहिए कि क्या हम भगवान के भक्त हैं, उनके अनुयायी हैं? क्या हम भगवान से यह प्रेरणा ग्रहण कर रहे हैं कि छोटे को बड़ा बनाकर भेद मिटाएँ और ईर्ष्या तथा कुटिलता से मुक्ति पाएँ? यहाँ पर मन्थरा के प्रसंग में ईर्ष्या का एक अन्य रूप सामने आता है। मन्थरा ने कैकेयी के मन में एक बात पैठा दी।

उसने कैकेयीजी से कहा कि आज सुन लीजिए कि आगे क्या होनेवाला है? क्या? बोली – राम अब तुम्हें नहीं, अपनी माँ को अधिक चाहते हैं। अब वे सिंहासन पर बैठेंगे और भरत को बन्दीगृह में डाल दिया जाएगा –

भरतु बंदिगृह सेइहहिं ... ॥ २/१९

और आपको क्या करना पड़ेगा ? बस, मन्थरा ने उन्हें सबसे बुरी लगनेवाली बात कह दी। एक कल्पित ईर्ष्या ! जहाँ कुटिलता होती है, वहाँ बिना कारण भी ईर्ष्या उत्पन्न की जा सकती है। उसने कैकेयी से कह दिया –

जौं सुत सहित करहु सेविकाई। २/१९/८

– आपको अपनी सौत कौशल्या की सेवा करनी पड़ेगी। इस बात की कल्पना-मात्र से ही कैकेयी को इतनी चोट लगी कि वे तिलमिला उठीं। मैं और अपनी सौत की सेवा करूँ? बड़ी विचित्र बात है। छोटे तो अपने बड़े की सेवा करते ही हैं। कैकेयी कह सकती हैं कि इसमें दोष क्या है, मैं छोटी हूँ, सेवा करनी पड़े तो कोई बात नहीं है। पर नहीं, व्यक्ति स्वयं को छोटा मानकर सेवा करना चाहे तो वह प्रसन्नता से सेवा करेगा, पर यदि उसे छोटा बनाकर बलात् उस पर सेवा लाद दी जाए, तो उसके अन्तःकरण में सामनेवाले के बड़प्पन से ईर्ष्या हुए बिना नहीं रहेगी। मन्थरा ने जब कैकेयी से कहा कि आपको सौत की सेवा करनी पड़ेगी, तो उन्होंने रोषपूर्ण स्वर में कहा – अरे, मन्थरा, तू यह क्या कह रही है, तब तो मैं यहाँ से अपने पिता के घर चली जाऊँगी –

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जिअत न करबि सवति सेवकाई ॥ २/२१/१

– मैं अपना सारा जीवन नैहर में बिता दूँगी, पर सौत की सेवा कभी नहीं करूँगी। ईर्ष्या में कुटिलता की वृत्ति मिल गई। परिणाम क्या हुआ? गोस्वामीजी ने संकेत देते हुए कहा कि इस ईर्ष्या और कुटिलता के मिलन से प्रतिहिंसा की वृत्ति का जन्म हो गया। प्रतिशोध की वृत्ति उत्पन्न हो गई –

जस कौसिलाँ मोर भल ताका। तस फल उन्हहि देउँ करि साका ॥ २/३३/८

कौशल्या ने जैसा मेरा भला सोचा है, उसका मैं उसे सवाया बदला चखाकर दिखा दूँगी कि मुझसे बैर करने का क्या परिणाम होता है। इस प्रकार एक कल्पित आशंका उत्पन्न करके मन्थरा ने कैकेयी के अन्तःकरण में छिपी हुई सात्विक ईर्ष्या को जगा दिया, उन्हें भविष्य की काल्पनिक विभीषिका दिखाकर उसकी ईर्ष्या को रजोगुणी ईर्ष्या में परिवर्तित कर दिया और उसमें अपनी कुटिलता को पैठाकर उसे तमोगुणी ईर्ष्या बना दिया, जिससे विरोध, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा आदि वृत्तियाँ उत्पन्न हो गईं। उनके अन्तःकरण में स्वयं के प्रति एक श्रेष्ठता और कौशल्या के प्रति एक ईर्ष्या का भाव था उसे मन्थरा की कुटिलता ने रजोगुणी बनाकर भरतजी को राज्य दिलाने की चेष्टा की, किन्तु वह यहीं नहीं रुकी, अन्त में उसने इस ईर्ष्या को तामसिक ईर्ष्या में परिवर्तित करके राम को वनवास दिलाया। महाराज दशरथ राम को राज्य देना चाहते थे, परन्तु रामराज्य क्यों नहीं बन पाया? बस उसका एक ही कारण है। जब तक यह ईर्ष्या की वृत्ति रहेगी, तब तक रामराज्य नहीं बन

पाएगा। आगे चलकर भगवान राम और श्रीभरत के चरित्र द्वारा इस ईर्ष्यावृत्ति का निदान होता है। भेदभाव, जो ईर्ष्या का मूलतत्त्व है, वह न तो श्रीराम के चरित्र में है न ही श्रीभरत के चरित्र में। इसलिए इन दोनों चरित्रों के माध्यम से ईर्ष्यारहित एक स्वस्थ समाज की रचना होती है और तब रामराज्य बनता है। इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी कैकेयीजी के लिए एक बड़ी उपमा देते हैं। वे कहते हैं –

ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू। २/२०९/४

वे श्रीभरत की तुलना चन्द्रमा से करते हैं और कैकेयी के कार्य की तुलना राहू से। यही बड़ी मनोवैज्ञानिक बात है। हनुमानजी जब लंका की ओर जा रहे थे, तब एक राक्षसी ने हनुमानजी की छाया को पकड़कर उन्हें गिराने की चेष्टा की। रामायण में तो गोस्वामीजी ने केवल इतना ही लिखा है –

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई। करि माया नभु के खग गहई ॥ ५/३/१

यहाँ पर उसका नाम नहीं लिखा है। केवल यही लिखा हुआ है कि एक राक्षसी रहती थी। किन्तु गोस्वामीजी के द्वादश ग्रन्थों में 'रामाज्ञा' भी एक है, जिसमें उस राक्षसी का परिचय देते हुए बताया गया है कि वह राक्षसी राहु की माँ सिंहिका थी।

राहु मातु माया मलिन मारी मारुत पूत ॥ रामाज्ञा. ५/२/१

यह सूत्र ध्यान में रखने योग्य तथा बड़े महत्व का है। हनुमानजी जब लंका की ओर जा रहे थे, तब राहु की माता सिंहिका ईर्ष्यावृत्ति के रूप में आती है और रामराज्य के सन्दर्भ में गोस्वामीजी राहु की तुलना कैकेयी की करनी से करते हैं। इसका अभिप्राय क्या है? इस सन्दर्भ से राहु का क्या सम्बन्ध है? सिंहिका राहु की माता है। इससे बढ़िया मनोवैज्ञानिक व्याख्या ईर्ष्या की हो नहीं सकती। राहु की पूरी कथा पर यदि दृष्टि डालें, तो उसके जीवन में सारा संघर्ष अमरता के लिए है। अमरता देवता भी चाहते हैं और दैत्य भी। किन्तु अमरता के साथ वे यह भी चाहते हैं कि हम तो अमर हो जाएँ पर हमारा प्रतिद्वन्द्वी अमर न होने पावे। यह वृत्ति दोनों में विद्यमान है।

समुद्रमन्थन की प्रक्रिया को यदि हम व्यापक सन्दर्भ में देखें, तो उसके मूल में यही वृत्ति है और राहु उसी की अन्तिम परिणति है। राहु का क्या अर्थ है? अमरता यदि हमें सीधे प्राप्त नहीं होती, तो छल से प्राप्त करें। अमर होना ही उद्देश्य है। यही है राहु का दर्शन। अब इस दौड़ में, जहाँ अमरता के लिए लालायित बहुत-से लोग शामिल हों, वहाँ कुछ लोग आगे और कुछ पीछे तो होंगे ही। तब जो लोग पिछड़ रहे होते हैं, वे देखते हैं कि कुछ लोग आगे बढ़ रहे हैं। अब या तो आगे बढ़ो या उनकी टाँग पकड़कर खींचो। यही मात्सर्य की वृत्ति है। राहु का अर्थ है मात्सर्य। सिंहिका यानी ईर्ष्या और ईर्ष्या का पुत्र है मात्सर्य। मात्सर्य अर्थात **मत्तः सरति** – मुझसे आगे बढ़ रहा है। यह वृत्ति आती कहाँ से है ? इसकी जननी ईर्ष्या है। जब किसी से ईर्ष्या होती है, तब हमें उसकी उन्नति खटकती है। ईर्ष्या के बाद जब मात्सर्य का जन्म हो जाए तो दोनों का संयुक्त परिणाम वही होगा, जो राहु का स्वभाव है। राहु क्या करता है? ग्रस लेता है। राहु के कारण ही सूर्य-चन्द्र को ग्रहण लगता

है। इसका अभिप्राय यह है कि राहु यह मानकर चला कि हम सूर्य-चन्द्र के समान चमक नहीं सकते, तो कम-से-कम उन्हें भी अन्धेरे में तो ला ही सकते हैं। उनकी चमक को तो मिटा ही सकते हैं। **मत्तः सरति** – अर्थात आगे बढ़ते देखकर ईर्ष्या की वृत्ति आई, मात्सर्य की वृत्ति आई, सिंहिका और राहु आए। मन में आया कि सामनेवाले से हम आगे निकल जाएँ। होड़ लगाकर आगे बढ़ने की चेष्टा की, परन्तु सामनेवाले की गति बड़ी तीव्र है। ऐसा लगा कि इसको तो हम दौड़ लगाकर हरा नहीं पाएँगे। तब सोचा कि इसकी टाँग पकड़कर खींच लें, इसे नीचे गिरा दें। गिराने की, दूसरों को कष्ट में डालने की वृत्ति आई। यह दोनों सन्दर्भों में, दोनों का संकेतसूत्र एक ही है।

कैकेयी के मन में भी यही वृत्ति उत्पन्न कर दी गई, भले ही वह मिथ्या और कल्पित रही हो। उसका उत्तर दिया भगवान राम और श्रीभरत ने। यहाँ पर गोस्वामीजी ने एक बड़ी अनोखी बात कही। वहाँ पर तो चन्द्रमा यह चाहता था कि राहु अमृत न पीये और राहु यह चाहता था कि हम चन्द्रमा का तेज मिटा दें। यद्यपि कैकेयी अपने पुत्र भरत को राज्यपद का अमृत पिलाने हेतु व्यग्र है, परन्तु भरतजी को तो राज्यपद की रंचमात्र भी लालसा नहीं है। उन्हें तो केवल भगवान राम की सेवा की लालसा है। उनके लिए तो भगवान राम की सेवा में ही परमसुख है। कैकेयी के मन में यह जो वृत्ति थी, उस वृत्ति को भी भरत बढ़ावा नहीं देते और दूसरी ओर भगवान राम जब लंका से लौटकर अयोध्या आए, तो सभी लोग उनके स्वागत के लिए आए, पर कैकेयीजी नहीं आईं। भगवान राम ने जब दृष्टि उठाकर चारों ओर देखा तो कैकेयीजी कहीं दिखाई नहीं दीं। गोस्वामीजी ने कहा –

प्रभु जानी कैकेई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी॥ ७/१०/१

– प्रभु समझ गए कि कैकेयी अम्बा लज्जावश नहीं आई हैं। वे सबसे पहले उनके ही भवन में गए और कहा - मुझे यह जो विजय मिली है, यह आपकी ही कृपा का फल है। न आप मुझे वन भेजती, न रावण मरता, न मुझे इतनी कीर्ति मिलती। आपने तो बड़ी कृपा की है, आपको संकोच नहीं करना चाहिए। इस तरह से जब भगवान श्रीराघवेन्द्र का औदार्य और श्रीभरत की निष्कामता का मिलन होता है, तब यह ईर्ष्यावृत्ति पराजित होती है और रामराज्य की स्थापना होती है।

□ (क्रमशः) □
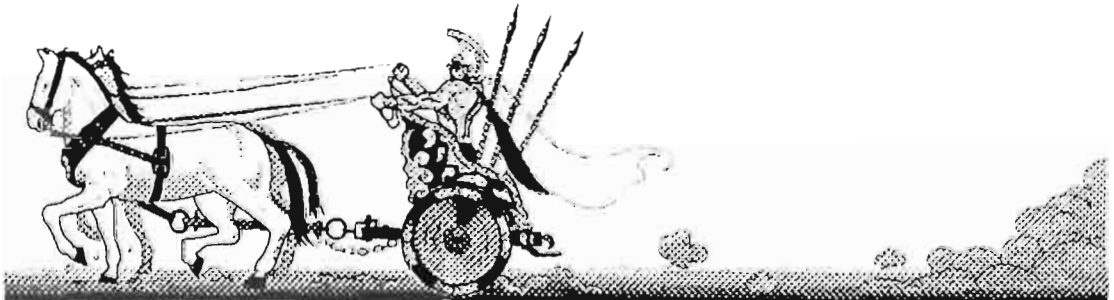
श्री चैतन्य महाप्रभु (४२)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्री श्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। विगत अनेक वर्षों से उसी का हिन्दी अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा था। प्रस्तुत है इस महान ग्रन्थ का अन्तिम अंश । - सं.)

उपसंहार

चैतन्यदेव के लीलासंवरण के बाद अल्प काल के भीतर ही उनके कई प्रिय शिष्य भी इस लोक से विदा हुए । फिर जिन लोगों को उनके द्वारा न्यस्त जीवशिक्षा का उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए कुछ काल और मानव-देह धारण रखना पड़ा था; उनके लिए महाप्रभु का स्मरण, मनन व लीलाकीर्तन ही एकमात्र व्रत रह गया । देवी विष्णुप्रिया के साधन-भजन की मात्रा तथा जीवनयापन की कठोरता में और भी वृद्धि हो गयी । उनकी वह विस्मयजनक तपस्या देखकर बड़े-से-बड़े पाखण्डी का हृदय भी विगलित हो उठता था । उनके मकान के चारों ओर ऊँची दीवार का घेरा बना हुआ था और सदर द्वार भीतर से बन्द रहता था, अत: कोई भी अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता था । मिश्र-परिवार के अनुगत सेवक ईशान का तब तक देहावसान हो चुका था । देवी के पदाश्रित सेवक वंशीवदन तथा प्रभु द्वारा नियुक्त संरक्षक दामोदर पण्डित तब भी विद्यमान थे । वे ही सारी देखभाल करते थे । आवश्यकता होने पर केवल उनकी सेविकाओं को ही घर में आने-जाने की अनुमति थी । प्रात:स्नान के पश्चात देवी भजन-मन्दिर में प्रवेश करतीं और तीसरे प्रहर तक द्वार रुद्ध किए भजन में तन्मय रहतीं । उस समय कोई भी उनके समीप नहीं जा सकता था । आहार के उपरान्त अपराह्न में निर्दिष्ट समय पर देवी के आदेश से द्वार खोल दिया जाता था । उस समय विशेष कृपाप्राप्त भक्त आकर उनके चरणों में दण्डवत करके प्रसादकण ग्रहण करते ।

चैतन्यदेव ने दास गदाधर नामक एक विशेष व्यक्ति को, बंगाल में भक्तिधर्म-प्रचार में सहायता के लिए नित्यानन्द के साथ कर दिया था । बालस्वभाव गदाधरदास देवी के अलौकिक मातृस्नेह का आस्वादन पाकर, माताजी के ही चरणों में आश्रय लेकर मिश्र-भवन के निकट एक कुटिया में निवास करते थे । जगज्जननी के कृपाभिलाषी होकर क्रमश: और भी अनेक भक्तों ने गदाधरदास का अनुसरण किया । इस प्रकार नवद्वीप में मिश्र-भवन के निकट कुटीरों की संख्या में वृद्धि होते हुए, अन्तत: वह स्थान तपस्वी साधुमण्डली की एक छावनी में परिणत हो गया । वे समस्त त्यागी भक्त, नवद्वीपवासी भक्तगण तथा दूर-दराज से मातृदर्शन की आकांक्षा से आगत भक्तवृन्द संध्या के समय एक बार परमाराध्या जननी के चरणयुगल दर्शन कर अपना जीवन सार्थक करते थे ।

घर के बरामदे में परदा लगा रहता था । देवी उसी के पीछे दण्डायमान हो जातीं । निर्दिष्ट समय पर भक्तों के समवेत हो जाने पर, परिचारिका परदा उठा देती और भक्तगण उनके चरणयुगल का दर्शन कर साष्टांग प्रणाम करते । अपने प्रिय भक्तों के लिए देवी

प्रतिदिन भोजन के उपरान्त थोड़ा-सा प्रसादान्न रख लेती थीं। वह महाप्रसाद ही उस समय भक्तों में वितरित किया जाता था। उसे पाकर उन लोगों के आनन्द की सीमा न रहती थी।

जगज्जननी ने अपने सन्तानों को शिक्षा देने के निमित्त यौवन के आरम्भ में ही पति को गृह त्यागने की अनुमति दे दी थी। परन्तु अब वे स्वयं भी उन लोगों को शिक्षा देने अग्रसर हुई थीं। माँ को छोड़ अबोध सन्तान को और कौन सिखाएगा ! माता ही तो पुत्र की प्रथम व प्रधान शिक्षिका हैं अज्ञ सन्तानों को सुपथ पर चलाने के लिए जगज्जननी ने स्वयं आचरण करके धर्म के आदर्श की स्थापना की।

इतने दिनों तक महादेवी अपने अन्तःस्थल की गोपनीयता में जिन आराध्यदेव की पूजा कर रहीं थीं, अब अपने आर्त शरणागत सन्तानों के नित्यकाल के लिए आश्रय के रूप में अब उन्होंने बाहर भी उनके श्रीविग्रह की काष्ठमूर्ति प्रतिष्ठित करने का संकल्प किया। अपने आश्रित सेवक वंशीवदन की सहायता से मिश्र-भवन के अति प्राचीन नीम वृक्ष (कहते हैं कि उसी के तले निमाई का जन्म हुआ था) कटवाकर देवी विष्णुप्रिया ने भुवनमोहन श्री विश्वम्भर के विग्रह की प्रतिष्ठा की और अपने सहोदर भाई को उनका सेवायत नियुक्त किया।[१] शास्त्रविधि के अनुसार बड़े धूमधाम से विग्रह-प्रतिष्ठा का उत्सव सम्पन्न हुआ। समस्त भक्तगण एकत्र होकर आनन्दोत्सव में उन्मत्त हुए; श्रीमूर्ति की सौन्दर्य-माधुरी से सबका हृदय मोहित हो उठा।

चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग की परिपुष्टि एवं उसमें विशेष प्रेरणा का संचार करने के बाद भी महाशक्तिरूपिणी देवी ने और कुछ काल इस मर्त्यलोक में निवास किया था तथा कोई कोई भाग्यवान उनकी साक्षात कृपा पाकर धन्य भी हुए थे। उनकी जीवन-धारा ऐसी विचित्र थी कि धराधाम में रहकर भी धरा के साथ मानो उनका कोई सम्बन्ध न था। देवी के दैनन्दिन जीवन तथा साधनाप्रणाली का विषय पहले भी कई बार उल्लेखित हो चका है, जो दिन-पर-दिन कठोरतर होता जा रहा था। अद्वैताचार्य उस समय तक जीवित थे। (नित्यानन्द प्रभु इसके पूर्व ही देहत्याग कर चुके थे।) देवी की कठोर तपस्या के बारे में सुनकर अद्वैताचार्य स्वयं तो वहाँ नहीं आ सके, परन्तु अपने विश्वस्त सेवक को भेजकर उन्होंने देवी से कठोरता कम करने तथा शरीर की ओर थोड़ा ध्यान रखने का अनुरोध किया था। वह प्रार्थना विफल हुई अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता, पर जिनका प्राणमन इष्ट में विलीन हो जाता है, उसके द्वारा देह की ममता सम्भव नहीं।

श्री विश्वम्भर की प्रतिष्ठा के कुछ काल बाद ही वंशीवदन भी अपने वांछित लोक को पधारे। आशिष्ठ, दृढ़िष्ठ, बलिष्ठ बालब्रह्मचारी दामोदर पण्डित तब अपनी वृद्धावस्था में भी उत्साही और कर्मठ थे। उन्होंने ही अब देवी की सेवा-परिचर्या का भार ग्रहण किया, क्योंकि और किसी भी पुरुष को देवी के भवन में प्रवेश करने की स्वीकृति न थी। दिन-पर-दिन देवी का बाह्य जगत के साथ सम्पर्क और भी घटने लगा। आखिरकार उन्होंने जप-ध्यान में ही पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया। चैतन्यदेव 'गम्भीरा' में निवास करते थे और देवी का निवासस्थान 'गम्भीरतर' से 'गम्भीरतम' हुआ।

'अनुरागवल्ली' ग्रन्थ में लिखा है, "प्रभु का तिरोभाव हो जाने पर देवी विष्णुप्रिया दिनरात विरह के समुद्र में डूबती-उतराती रहती थीं। भवन का बाह्य द्वार बन्द कराकर वे

कुछ दासियों के साथ भीतर निवास करती थीं। मकान के दोनों ओर की दीवालों के सहारे दो सीढ़ियाँ लगी थीं, जिनके द्वारा दासियाँ सामने या पिछवाड़े जाती थीं। भीतर जाना पुरुषमात्र के लिए निषिद्ध था, परन्तु प्रभु के आदेश के कारण दामोदर पण्डित जाया करते थे। पण्डित में अद्भुत शक्ति थी और उनका स्वभाव भी अद्भुत था। महाप्रभु की कृपा से वे निरपेक्ष के रूप में विख्यात थे। यदि कभी कोई अल्पमात्र भी मर्यादा का उल्लंघन करता वे उसी क्षण कठोर दण्ड देकर मर्यादा की स्थापना कर देते थे। उनके शरीर में निरन्तर प्रेमावेश हुआ करता था और सभी लोग उन्हें देखकर संकुचित हो जाते थे। गंगाजल से भरे दो घड़े हाथों में लिए वे किसी ओर भ्रूक्षेप किए बिना, उसी रास्ते से भीतर ले जाते। प्रतिदिन देव सेवा के लिए जितने भी जल की आवश्यकता होती प्राय: उसे दामोदर अकेले ही लाकर पूरा करते। फिर दासीगण जब गंगास्नान को जातीं, तब वे साथ में कलश ले जाकर बाकी आवश्यकताओं के लिए जल ले आतीं।''

चैतन्यदेव ने दामोदर को जिस निमित्त पुरी से नवद्वीप भेजा था, वह इसी रूप में सार्थक हुआ था। कांचना नाम की एक ब्राह्मण-कन्या देवी के ही समान आयु की थी। वे ही आजीवन उनकी प्रिय सखी एवं सेविका बनी रहीं। कहते हैं कि देवी की प्रसन्नता के हेतु कांचना बड़ा कष्ट उठाकर पैदल ही पुरी जातीं और स्वयं संन्यासी का दर्शन कर उनका संवाद ले आतीं। भाग्यवती कांचना ने छाया के समान देवी के साथ रहकर, बड़ी सावधानीपूर्वक सेवा करते हुए उनकी देहरक्षा की थी। कांचना के ऊपर देवी का अतिशय स्नेह था, इस कारण वे उनके अनुरोध आदि की पूर्णत: उपेक्षा नहीं करती थीं।

इसी प्रकार कुछ काल व्यतीत हुआ। देवी भोर के समय गंगास्नान करके कभी-कभी अपनी सेविका के साथ मन्दिर में श्रीमूर्ति का दर्शन भी कर आती थीं। उस बार श्री विश्वम्भर की जन्मतिथि दोलपूर्णिमा के दिन वे प्रभात काल में गंगास्नान के पश्चात आकर मन्दिर में प्रविष्ट हुईं। बाकी सबको मन्दिर से बाहर चले जाने का आदेश हुआ। थोड़ी देर बाद द्वार खोलने पर देखा गया कि श्रीमती महासमाधि मार्ग से चिर काल के लिए अपने प्रियतम से मिलित हो चुकी हैं। नवद्वीप के नयनाभिराम श्रीविग्रह में एक ही साथ विष्णुप्रिया-विश्वम्भर दोनों का आविर्भाव हुआ।

परिशिष्ट

(क) चैतन्यदेव तथा प्रेम-भक्ति के प्रसंग में भगवान श्रीरामकृष्ण

चैतन्यदेव का ज्ञान सौर-ज्ञान था – ज्ञान सूर्य का प्रकाश था। और उनके भीतर भक्तिचन्द्र की ठण्डी किरणें भी थीं। ब्रह्मज्ञान और भक्तिप्रेम दोनों ही थे।[१]

कलियुग के लिए भक्तियोग है। भक्तिपथ सीधा पथ है। हृदय से व्याकुल होकर उनके नाम का स्मरण करो, उनसे प्रार्थना करो, भगवान मिलेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं।[२]

भक्ति के मार्ग पर चलने से भी ब्रह्मज्ञान होता है। भगवान सर्वशक्तिमान हैं। वे इच्छा करें, तो ब्रह्मज्ञान भी दे सकते हैं। भक्त प्राय: ब्रह्मज्ञान नहीं चाहते। 'मैं दास हूँ, तुम प्रभु हो', 'मैं बच्चा हूँ, तू माँ है' – वे ऐसा अभिमान रखना चाहते हैं। ... और 'मैं चीनी बन जाना नहीं चाहता, चीनी खाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है।' मेरी कभी यह इच्छा नहीं

होती कि कहूँ, 'मैं हीं ब्रह्म हूँ ।' मैं कहता हूँ, 'तुम भगवान हो, मैं तुम्हारा दास हूँ ।' पाँचवीं और छठी भूमि के बीच चक्कर काटना अच्छा है । छठी भूमि को पार कर सप्तम भूमि में अधिक देर तक रहने की मेरी इच्छा नहीं होती । मैं उनका नामगुण-कीर्तन करूँगा, यही मेरी इच्छा है । सेव्य-सेवक भाव बड़ा अच्छा है । और देखो, ये तरंगें गंगा की ही हैं, परन्तु तरंगों की गंगा है, ऐसा कोई नहीं कहता । 'मैं वही हूँ' यह अभिमान अच्छा नहीं । देहात्मबुद्धि के रहते ऐसा अभिमान जिसको होता है उसकी बड़ी हानि होती है, फिर वह आगे बढ़ नहीं सकता, धीरे-धीरे पतित हो जाता है । वह दूसरों की आँखों में धूल झोंकता है, साथ ही अपनी आँखों में भी; अपनी स्थिति का हाल वह नहीं समझ पाता ।

परन्तु भेड़ियाधसान की भक्ति से ईश्वर नहीं मिलते, उन्हें पाने के लिए 'प्रेमाभक्ति' चाहिए । 'प्रेमाभक्ति' का एक और नाम है 'रागभक्ति' । प्रेम या अनुराग के बिना भगवान नहीं मिलते । ईश्वर पर जब तक प्यार नहीं होता तब तक उन्हें कोई प्राप्त नहीं कर सकता ।

और एक प्रकार की भक्ति है उसका नाम है 'वैधीभक्ति' । इतना जप करना होगा, उपवास करना होगा, तीर्थयात्रा करनी होगी, इतने उपचारों से पूजा करनी होगी, बलिदान देना होगा – यह सब वैधीभक्ति है । इसका बहुत-कुछ अनुष्ठान करते करते क्रमशः रागभक्ति होती है । जब तक रागभक्ति न होगी, तब तक ईश्वर नहीं मिलेंगे । उन्हें प्यार करना चाहिए । जब संसार बुद्धि बिल्कुल चली जायगी – सोलह आना मन उन्हीं पर लग जायगा, तब वे मिलेंगे ।

परन्तु किसी किसी को रागभक्ति अपने-आप ही होती है; स्वतःसिद्ध, बचपन से ही । बचपन से ही वह ईश्वर के लिए रोता है, जैसे प्रह्लाद । 'विधिवादीय' भक्ति कैसी है? जैसे हवा लगने के लिए पंखा झलना । हवा के लिए पंखे की जरूरत है । ईश्वर पर अनुराग उत्पन्न करने के लिए जप, तप, उपवास आदि विधियाँ मानी जाती हैं; परन्तु जब दक्षिणी हवा आप बह चलती है, तब लोग पंखा रख देते हैं । भगवद्प्रेम में मस्त हो जाने से वैधी कर्म करने के लिए फिर किसको समय है? ...

जिसकी भक्ति कच्ची है, वह ईश्वर की कथा और उपदेशों की धारणा नहीं कर सकता । पक्की भक्ति होने पर ही धारणा होती है । फोटोग्राफ के शीशे पर अगर स्याही (Silver Nitrate) लगी हो, तो जो चित्र उस पर पड़ता है वह ज्यों का त्यों उतर जाता है, परन्तु सादे शीशे पर चाहे हजारों चित्र दिखाये जायें, एक भी नहीं उतरता । शीशे पर से चित्र हटा कि वही ज्यों-का-त्यों सफेद-शीशा! ईश्वर-प्रीति हुए बिना उपदेशों की धारणा नहीं होती ।

भक्ति से ही उनके दर्शन हो सकते हैं । परन्तु पक्की भक्ति, प्रेमाभक्ति, रागभक्ति चाहिए । उसी भक्ति से उन पर प्रीति होती है, जैसा बच्चों का माँ पर प्यार, माँ का बच्चे पर प्यार और पत्नी का पति पर प्यार होता है ।[३]

श्रीरामकृष्ण मधुर कण्ठ से नामोच्चारण कर रहे हैं – "हरि ॐ! हरि ॐ! हरि ॐ!" माँ से कह रहे हैं, "माँ! ब्रह्मज्ञान देकर मुझे बेहोश न रखना । मैं ब्रह्मज्ञान नहीं चाहता माँ! मैं आनन्द करूँगा । विलास करूँगा ।"

फिर कहते हैं, "माँ, मैं वेदान्त नहीं जानता – जानना भी नहीं चाहता ! माँ, तुझे पाने पर वेद-वेदान्त कितने नीचे पड़े रहते हैं !"

"अरे कृष्ण ! मैं तुझे कहूँगा, 'यह ले – खा ले – बच्चे !' कृष्ण ! कहूँगा, तू मेरे ही लिए देहधारण करके आया है ।"[४]

श्रीरामकृष्ण फिर भावाविष्ट हो गये । भावावेश में ही कह रहे हैं – "ॐ ॐ ॐ – माँ, मैं क्या कह रहा हूँ ! माँ, मुझे ब्रह्मज्ञान देकर बेहोश न करना । मैं तेरा बच्चा जो हूँ ! डरता हूँ – मुझे माँ चाहिए – ब्रह्मज्ञान को मेरा कोटि कोटि नमस्कार ! वह जिसे देना हो उसे दो । आनन्दमयी ! आनन्दमयी !"[५]

"चैतन्यदेव को तीन अवस्थाएँ होती थीं । बाह्यदशा – तब स्थूल और सूक्ष्म में उनका मन रहता था । अर्धबाह्यदशा – तब कारण-शरीर में, कारणानन्द में चला जाता था । अन्तर्दशा – तब महाकारण में मन लीन हो जाता था ।

वेदान्त के पंचकोश के साथ इसका यथार्थ मेल है । स्थूल-शरीर अर्थात अन्नमय और प्राणमय कोष । सूक्ष्म-शरीर अर्थात मनोमय और विज्ञानमय कोष । कारण-शरीर अर्थात आनन्दमय कोष । महाकारण पंचकोषों से परे है । महाकारण में जब मन लीन होता था तब वे समाधिमग्न हो जाते थे । इसी का नाम निर्विकल्प अथवा जड़-समाधि है ।

"चैतन्यदेव की जब बाह्यदशा होती थी, तब वे नाम-संकीर्तन करते थे । अर्धबाह्यदशा में भक्तों के साथ नृत्य करते थे । अन्तर्दशा में समाधिस्थ हो जाते थे । श्रीचैतन्य भक्ति के अवतार थे । वे जीवों को भक्ति की शिक्षा देने के लिए आये थे ।"[६]

(ख) चैतन्यदेव एवं गोपीप्रेम के विषय में स्वामी विवेकानन्द की उक्तियाँ

केवल एक ही बार वे महान प्रतिभाशाली भगवान श्रीकृष्णचैतन्य ही उस अनन्त 'अवच्छिन्न अवच्छेदक'[७] के जाल से ऊपर उठ सके । उसी समय एक बार बंगाल की आध्यात्मिक तन्द्रा भंग हुई और कुछ समय तक वह भी भारत के अन्य प्रदेशों के धर्मजीवन में सहभागी हुआ ।

आश्चर्य की बात है कि यद्यपि श्रीचैतन्य ने संन्यास-दीक्षा एक भारती से ग्रहण की और इस कारण वे स्वयं भारती थे, पर माधवेन्द्र पुरी के शिष्य ईश्वर पुरी द्वारा ही उनकी आध्यात्मिक प्रतिभा की प्रथम जागृति हुई । ऐसा प्रतीत होता है कि बंगदेश में धार्मिक जागृति करना मानो पुरी सम्प्रदाय का ही एक विधाता-निर्दिष्ट उद्देश्य था । भगवान श्रीरामकृष्ण को संन्यास-आश्रम तोतापुरी से प्राप्त हुआ ।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने व्याससूत्र पर जो भाष्य लिखा, वह तो लुप्त हो गया या अभी तक मिल नहीं सका ।[८] उनके शिष्यगण दक्षिण के माध्व-सम्प्रदाय के साथ सम्मिलित हो गये थे और क्रमशः रूप, सनातन और जीव गोस्वामी जैसे विख्यात महापुरुषों द्वारा अंगीकृत कार्यभार बाबाजी लोगों के कन्धे आ पड़ा और श्रीचैतन्य का महान आन्दोलन तीव्र गति से ध्वंस की ओर जाने लगा । केवल थोड़े ही वर्षों से उसके पुनरुज्जीवन का चिह्न दिखायी दे रहा है । आशा है कि वह अपना नष्ट वैभव पुनः प्राप्त करेगा ।

श्रीचैतन्य का प्रभाव सारे भारत में दिखायी देता है । जहाँ कहीं भक्तिमार्ग की जानकारी है, वहाँ उनकी पूजा-मान्यता तथा उनके सम्बन्ध में सादर चर्चा प्रचलित है । मैं कई कारणों से यह मानता हूँ कि वल्लभाचार्य का सम्पूर्ण सम्प्रदाय श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय की

एक शाखा मात्र ही है । पर बंगाल में उनके शिष्य कहलानेवाले लोग यह नहीं जानते कि उनकी शक्ति सारे भारत में आज भी किस तरह काम कर रही है । और वे समझें भी तो कैसे? उनके शिष्य तो गद्दीवाले बन गये, पर वे स्वयं भारत में नंगे पैर द्वार द्वार पर जाकर चाण्डाल तक को उपदेश देते, भगवान के प्रति प्रेमसम्पन्न होने की भीख माँगते फिरे । (१८९४ ई. अमेरिका से प्रेषित 'मद्रास-अभिनन्दन' के उत्तर से)

उत्तर भारत के महान सन्त श्री चैतन्य गोपियों के प्रेमोन्मत्त भाव कें प्रतिनिधि थे । चैतन्यदेव स्वयं एक ब्राह्मण थे, उस समय के एक प्रसिद्ध नैयायिक वंश में उनका जन्म हुआ था । वे न्याय के अध्यापक थे, तर्क द्वारा सबको परास्त करते थे – बचपन से इसी को उन्होंने जीवन का उच्चतम आदर्श समझ रखा था । किसी महापुरुष की कृपा से उनका सम्पूर्ण जीवन बदल गया; तब उन्होंने वाद-विवाद, तर्क, न्याय का अध्यापन, सब कुछ छोड़ दिया । संसार में भक्ति के जितने भी बड़े बड़े आचार्य हुए हैं, प्रेमोन्मत्त चैतन्य उनमें से एक श्रेष्ठ आचार्य हैं । उनकी भक्तितरंग सारे बंगाल में फैल गयी, जिससे सबके हृदय को शान्ति मिली । उनके प्रेम की सीमा न थी । साधु, असाधु, हिन्दू, मुसलमान, पवित्र, अपवित्र, वेश्या, पतित – सभी उनके प्रेम के भागी थे, वे सब पर दया रखते थे । यद्यपि काल के प्रभाव से सभी अवनति को प्राप्त होते हैं और उनका चलाया हुआ सम्प्रदाय घोर अवनति की दशा को पहुँच गया है; फिर भी आज तक वह दरिद्र, दुर्बल, जातिच्युत, पतित, किसी भी समाज में जिनका स्थान नहीं है, ऐसे लोगों का आश्रयस्थान है ।

उनके (श्रीकृष्ण) जीवन के उस चिरस्मरणीय अध्याय की बात याद आती है, जिसका समझना अत्यन्त कठिन है । जब तक कोई पूर्ण ब्रह्मचारी और पवित्र स्वभाव का नहीं बनता, तब तक इसे समझने की चेष्टा करना भी उचित नहीं । वृन्दावन की मधुरलीला में रूपकं भाव से वर्णित प्रेम के उस अत्यद्भुत विकास को, जो प्रेमरूपी मदिरा के पाने से उन्मत्त हुआ हो, उसे छोड़ अन्य कोई भी समझ नहीं सकता । जो प्रेम आदर्शस्वरूप है, जो प्रेम प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, जो प्रेम स्वर्ग की भी आकांक्षा नहीं करता, जो प्रेम इहलोक और परलोक की किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता, गोपियों के उस प्रेम से उत्पन्न विरह-यंत्रणा के भाव को भला कौन समझ सकता है? और मित्रो ! इसी गोपी-प्रेम के माध्यम से सगुण और निर्गुण ईश्वरवाद के संघर्ष का एकमात्र समाधान मिल सका है। हम जानते हैं कि सगुण ईश्वर मनुष्य की उच्चतम धारणा है । हम यह भी जानते हैं कि दार्शनिक दृष्टि से, समग्र विश्व जिनकी अभिव्यक्ति है, उन सर्वव्यापी निर्गुण ईश्वर में विश्वास ही स्वाभाविक है । पर साथ ही हम साकार वस्तु की कामना करते हैं, ऐसी वस्तु चाहते हैं जिसकी हम धारणा कर सकें, जिसके चरणों में अपना हृदय उत्सर्ग कर सकें । इसलिए सगुण ईश्वर ही मनुष्य स्वभाव की उच्चतम धारणा है । किन्तु वही अति प्राचीन – प्राचीनतम समस्या है, जिस पर ब्रह्मसूत्रों में विचार किया गया है; वनवास के समय द्रौपदी ने युधिष्ठिर के साथ जिस पर विचार किया है; और वह यह कि यदि एक सगुण पूर्ण दयामय सर्वशक्तिमान ईश्वर है, तो इस नारकीय संसार का अस्तित्व क्यों है? उसने इसकी सृष्टि क्यों की? उस ईश्वर को महापक्षपाती कहना ही उचित है । इसकी किसी प्रकार मीमांसा नहीं होती । गोपियों के प्रेम के सम्बन्ध में जो तुम पढ़ते हो, इसकी मीमांसा एकमात्र उसी

से हो सकती है । वे कृष्ण के लिए प्रयुक्त किसी भी विशेषण से घृणा करती हैं, वे यह जानने की चिन्ता नहीं करतीं कि कृष्ण सृष्टिकर्ता हैं; वे यह जानने की परवाह नहीं करतीं कि कृष्ण सर्व-सामर्थ्यवान हैं । वे तो केवल यही समझतीं हैं कि कृष्ण प्रेममय हैं और उनके लिए इतना ही यथेष्ट है । गोपियाँ उन्हें केवल वृन्दावन का कृष्ण ही समझती हैं । विशाल सेनाओं के अधिपति राजाधिराज उनकी दृष्टि में सदा गोपबालक ही रहे ।

न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ।। – श्रीचैतन्य

– 'हे जगदीश, मैं धन, जन, कविता अथवा सुन्दरी - कुछ भी नहीं चाहता; हे ईश्वर, जन्म-जन्मान्तरों में आपके प्रति मेरी अहैतुकी भक्ति हो ।' यह अहैतुकी भक्ति, यह निष्काम कर्म, यह निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा का आदर्श धर्म के इतिहास में एक नया अध्याय है । मानव-इतिहास में पहली बार भारतभूमि पर सर्वश्रेष्ठ अवतार श्रीकृष्ण के मुँह से पहले-पहल यह तत्त्व निकला था । भय और प्रलोभनों के धर्म सदा के लिए विदा हो गये और मनुष्य-हृदय में नरक-भय और स्वर्ग-सुखभोग के प्रलोभन होते हुए भी, प्रेम के निमित्त प्रेम, कर्तव्य के निमित्त कर्तव्य, कर्म के निमित्त कर्म – जैसे सर्वोत्तम आदर्शों का अभ्युदय हुआ ।

और यह प्रेम कैसा है? मैं पहले ही कह चुका हूँ कि गोपी-प्रेम को समझना बड़ा कठिन है । हमारे बीच भी ऐसे मूर्खों का अभाव नहीं है, जो श्रीकृष्ण के जीवन के ऐसे अति अपूर्व अंश के अद्भुत तात्पर्य को समझने में असमर्थ हैं ।

मैं पुन: कहता हूँ कि हमारे ही रक्त से उत्पन्न अनेक अपवित्र मूर्ख हैं, जो गोपी-प्रेम का नाम सुनते ही मानो उसको अत्यन्त अपावन समझकर भय से दूर भाग जाते हैं । उनसे मै सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि पहले अपने मन को शुद्ध करो और तुमको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस इतिहासकार ने गोपियों के इस अद्भुत प्रेम का वर्णन किया है, वे हैं आजन्म पवित्र, नित्य शुद्ध व्यासपुत्र शुकदेव । जब तक हृदय में स्वार्थपरता रहेगी, तब तक यह भगवत्प्रेम असम्भव है । यह केवल दुकानदारी है कि "मैं आपको कुछ देता हूँ, और भगवान आप भी मुझको कुछ दीजिए ।" दूसरी तरफ भगवान कहते हैं, "यदि तुम ऐसा नहीं करोगे, तो तुम्हारे मरने पर मैं तुम्हें देख लूँगा – चिरकाल तक तुम्हें जलाकर मारूँगा ।" सकाम व्यक्ति की ईश्वर-धारणा ऐसी ही होती है । जब तक मस्तिष्क में ऐसे भाव रहेंगे, तब तक गोपियों की प्रेमजनित विरह की उन्मत्तता मनुष्य कैसे समझेंगे !

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतरागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ।। (श्रीमद्भागवत)

– "एक बार, केवल एक बार यदि उन मधुर अधरों का चुम्बन प्राप्त हो ! जिसका तुमने एक बार भी चुम्बन किया है, चिरकाल तक उसकी तुम्हारे लिए पिपासा बढ़ती जाती है, उसके सकल दुख दूर हो जाते हैं, अन्यान्य विषयों की आसक्ति दूर हो जाती है और उस समय एकमात्र तुम्ही प्रीति की वस्तु रह जाते हो ।"

पहले काम, कांचन, नाम, यश और तुच्छ मिथ्या संसार के प्रति आसक्ति छोड़ो । तभी, केवल तभी तुम गोपी-प्रेम को समझोगे । यह इतना विशुद्ध है कि बिना सब कुछ छोड़े इसको समझने की चेष्टा करना ही अनुचित है । जब तक अन्त:करण पूर्ण रूप से पवित्र

नहीं होता, तब तक इसको समझने की चेष्टा करना वृथा है ।

हर समय जिनके हृदय में काम, धन, यशोलिप्सा के बुलबुले उठते हैं, ऐसे लोग गोपी-प्रेम की आलोचना करने तथा समझने का साहस करते हैं ! कृष्ण-अवतार का मुख्य उद्देश्य इसी गोपी-प्रेम की शिक्षा है, यहाँ तक कि गीता का महान दर्शन भी उस प्रेमोन्मत्तता की बराबरी नहीं कर सकता । क्योंकि गीता में साधक को धीरे धीरे उसी चरम लक्ष्य मुक्ति के साधन का उपदेश दिया गया है, किन्तु इसमें रसास्वाद की उन्मत्तता, प्रेम की मदोन्मत्तता विद्यमान है; यहाँ गुरु और शिष्य, शास्त्र और उपदेश, ईश्वर और स्वर्ग सब एकाकार हैं, भय के भाव का चिह्न तक नहीं है; सब बह गया है – शेष रह गयी है केवल प्रेमोन्मत्तता । उस समय संसार का कुछ भी स्मरण नहीं रहता; भक्त उस समय संसार में उसी कृष्ण, एकमात्र उसी कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता । उस समय वह समस्त प्राणियों में कृष्ण के ही दर्शन करता है, उसका मुख भी उस समय कृष्ण के ही समान दीखता है, उसकी आत्मा उस समय कृष्णमय हो जाती है । यह है कृष्ण की महिमा !

ऐसा श्रेष्ठ आदर्श और कभी चित्रित नहीं हुआ । हम उनके (वेदव्यास) ग्रन्थ में गोपी-जनवल्लभ वृन्दावन-विहारी से कोई और उच्चतर आदर्श नहीं पाते । जब तुम्हारे हृदय में इस उन्मत्तता का प्रवेश होगा, जब तुम भाग्यवती गोपियों के भाव को समझोगे, तभी तुम जानोगे कि प्रेम क्या वस्तु है ! जब समस्त संसार तुम्हारी दृष्टि से अन्तर्धान हो जायेगा, जब तुम्हारे हृदय में और कोई कामना नहीं रहेगी, जब तुम्हारा चित्त पूर्णरूप से शुद्ध हो जायेगा, अन्य कोई लक्ष्य न होगा, यहाँ तक कि जब तुममें सत्यानुसन्धान की वासना भी नहीं रहेगी, तभी तुम्हारे हृदय में उस प्रेमोन्मत्तता का आविर्भाव होगा, तभी तुम गोपियों का अनन्त अहैतुकी प्रेम-भक्ति की महिमा समझोगे । यही लक्ष्य है । यदि तुमको यह प्रेम मिला तो सब कुछ मिल गया । ('भारत के महापुरुष' व्याख्यान से)

सन्दर्भ सूची :

१. अब भी उन्हीं के वंशज वहाँ सेवक-पुजारी हैं । ये लोग शक्तिमंत्र के उपासक हैं ।

२. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग २, षष्ठ सं., पृष्ठ २१७; ३. वही, भाग १, नवम सं., पृष्ठ १९५; ४. वही, पृष्ठ १९७-९९; ५. वही, पृष्ठ ६२४; ६. वही, भाग २, पृष्ठ २१; ७. वही, भाग १, पृष्ठ ५३७-३८

८. न्याय परिभाषा के दो शब्द; यहाँ न्याय-दर्शन से तात्पर्य है ।

९. सम्प्रति बंगीय साहित्य परिषद में एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त हुआ है । उसमें सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्र तो नहीं, पर कहते हैं कि विशेष-विशेष सूत्रों पर चैतन्यदेव का अभिमत लिपिबद्ध है ।
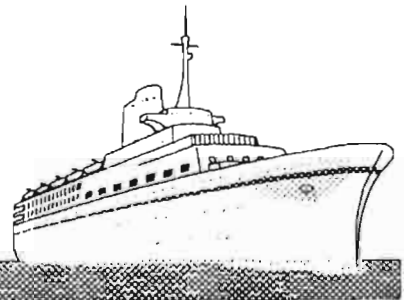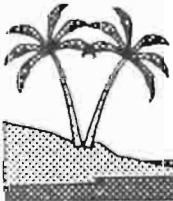
माँ के सान्निध्य में (४३)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं । – सं.)

उसी काल में एक दिन संध्या के समय गयी थी । एक संन्यासी माँ को प्रणाम करने आये और बोले, "माँ, बीच बीच में प्राणों में इतनी अशान्ति क्यों आ जाती है? क्यों सारे समय आपका चिन्तन लेकर नहीं रह पाता? मन में बेकार की बातें क्यों आ पड़ती हैं? माँ, छोटी-मोटी बहुत- सी चीजें तो चाहते ही मिल जाती हैं, मिली भी हैं; आपको क्या कभी प्राप्त नहीं कर सकूँगा? आजकल दर्शन आदि भी विशेष कुछ नहीं होते । आप की ही उपलब्धि नहीं कर सका, तो फिर जीवित रहकर ही क्या लाभ? शरीर का चला जाना ही अच्छा है ।"

माँ – यह क्या बेटा, ऐसी बात भी क्या सोचनी चाहिए? दर्शन क्या रोज रोज होते हैं? ठाकुर कहा करते थे, 'कटिया डालकर बैठने से क्या हर रोज रोहू मछली पकड़ में आती है? तरह तरह के चारे आदि लेकर एकाग्रता के साथ बैठने पर किसी दिन सम्भव है कोई रोहू मछली पकड़ में आ जाय, हो सकता है किसी दिन पकड़ में न भी आय । इसी कारण बैठना नहीं बन्द करते ।' अपना जप बढ़ा दो ।

योगीन-माँ – हाँ, नाम ब्रह्म है। प्रारम्भ में मन भले ही स्थिर न हो, पर होगा अवश्य।

संन्यासी ने पूछा, "कितनी संख्या में जप करूँ, आप बता दीजिए माँ, इससे हो सकता है मन में एकाग्रता आ जाय ।"

माँ – अच्छा, प्रतिदिन दस हजार जप करो; दस-बीस हजार जितना भी हो सके ।

संन्यासी – माँ, एक दिन वहाँ मन्दिर में पड़ा रो रहा था, उसी समय देखा कि आप सिर के पास खड़ी होकर कह रही हैं, 'तू क्या चाहता है?' मैंने कहा, 'माँ, मैं आपकी कृपा चाहता हूँ, जैसी कि आपने सुरथ पर की थी ।' उसके बाद फिर कहा, 'नहीं माँ, वह तो दुर्गा रूप में था, मैं उस रूप में नहीं, इसी रूप में चाहता हूँ !' आप थोड़ा हँसकर चली गयीं । इस पर मन और भी व्याकुल हो गया, कुछ भी अच्छा नहीं लगता । मन में आया कि जब उन्हें प्राप्त नहीं कर सका, तो फिर जीवित ही क्यों हूँ?

माँ – क्यों, जितना भी मिला है, उसी को पकड़े क्यों नहीं रहते? मन में सोचना कि और कोई भले ही न हो, मेरी एक 'माँ' है । ठाकुर कह गये हैं न कि यहाँ के सभी को वे अन्तिम दिन दर्शन देंगे ही – दर्शन देकर संग ले जायेंगे ।

संन्यासी – जिनके यहाँ था, वे गृहस्थ खूब भक्त हैं । उनकी पत्नी एक बड़े आदमी की पुत्री हैं, खूब खर्च करती हैं । ... अच्छा खाने-पीने को बड़ा अनुरोध करती हैं ।

माँ – उसे बेकार ही अधिक खर्च करने से मना करना। भक्त-गृहस्थ के पास रुपये रहें तो साधुओं के कितने काम आते हैं। उन्हीं के रुपयों से तो साधु लोग वर्षाकाल में एक स्थान पर बैठकर चातुर्मास कर सकते हैं। उस समय तो साधुओं को भ्रमण करते हुए भिक्षा की सुविधा नहीं रहती।

संन्यासी प्रणाम करके नीचे गये।

३ सितम्बर १९१८

मैं बीमार थी। थोड़ा ठीक होते ही आज संध्या आरती के बाद गयी थी । माँ उस समय लेटी हुई थीं। देखते ही बोलीं, "क्यों जी, ठीक हो? बीमारी ठीक हुई?"

मैंने कहा, "हाँ, माँ।" वे संसार के कुशल प्रश्न आदि करने लगीं। ढाका की एक शिष्या कोई एक महीने से 'उद्‌बोधन' में हैं, वे बोलीं, "माँ, मैं तेल मालिश कर दूँ? दीदी की तो तबीयत ठीक नहीं है।"

माँ – सो हुआ करे, वह कर सकेगी।

उनके फिर पूछने पर भी उन्होंने कहा, "नहीं, नहीं, वह तेल लगा सकेगी। न हो तो तू थोड़ी हवा कर दे।" वे हवा करने लगीं। थोड़ी हवा करने के बाद ही माँ बोलीं, "हो गया, ठण्ड लग रही है। अब थोड़ा सो ले। पानी पीया है? मिठाई के साथ थोड़ा-सा पानी पी ले न।" माँ इसी प्रकार सबके मन को सन्तुष्ट रखती हैं। उन्होंने माँ के निर्देशानुसार पानी पीया और सो गयीं।

माँ – कल ठाकुर की पुस्तक का कैसा पाठ हुआ! सरला ने पढ़ा था। कैसी सब बातें हैं! उस समय क्या जानती थी बेटी, कि इतना सब होगा! क्या ही मनुष्य के रूप में आये थे! कितने लोग ज्ञान पा गये! क्या ही सदानन्द पुरुष थे! चौबीस घण्टे हँसी, चर्चा, कथा, कीर्तन आदि सब लगे ही रहते थे। अपने जानकारी में तो मैंने कभी उन्हें अशान्त नहीं देखा। मुझे कितनी अच्छी अच्छी बातें बतलाते। अहा! यदि लिखना-पढ़ना आता, तो इसी प्रकार वह सब लिखकर रख देती। क्यों जी सरला, आज फिर पढ़ो न।

सरला दीदी 'वचनामृत' पढ़ने लगीं। राखाल महाराज के पिताजी आये हैं – वहीं से पाठ आरम्भ हुआ। पाठ सुनते सुनते माँ कह रही हैं, "यह जो राखाल के बारे में उसके पिता से कहा, 'यदि ओल अच्छा है, तो उसके अंकुर भी अच्छे होते हैं।' सचमुच ही इसी प्रकार वे राखाल के पिता का मन प्रसन्न रखते थे। उनके आते ही यत्नपूर्वक सब कुछ दिखाते और कितने ही प्रकार की बातें करते – भय था कि कहीं राखाल को वहाँ से घर न ले जायँ। राखाल की माँ सत्-स्वभाव की थी। वह जब दक्षिणेश्वर आती, तो ठाकुर राखाल से कहते, 'अरे, अच्छी तरह उसकी देखभाल कर, तो उसे लगेगा कि बेटा मुझसे प्रेम करता है'।" पढ़ते पढ़ते वृन्दा-झी की पूरियों की बात आयी। माँ ने कहा, "हाँ जी, वह भी क्या कम थी? उसके जलपान के लिए नियत पूरियाँ यदि किसी दिन खर्च हो जातीं, तो आसमान सिर पर उठा लेती; कहती, 'ओ माँ, ये कैसे अच्छे घरों के लड़के हैं, मेरा सब खाकर बैठे रहते हैं, मिठाई भी नहीं मिलती!'

"ठाकुर डरते थे कि ये सब बातें कहीं लड़कों के कान में न पड़ जायें। एक दिन भोर में उठते ही वे नौबत में आकर मुझसे बोले, 'अजी, वृन्दा का खाना तो खर्च हो गया है, सो तुम उसके लिए रोटी या पूरी जो भी हो बना देना, नहीं तो अभी आकर शोरगुल मचायेगी। दुष्टों से बचकर चलना पड़ता है।'

"मैंने तो वृन्दा के आते ही तत्काल कहा, 'वृन्दे, तेरा खाना खर्च हो गया है, अभी बनाए देती हूँ।' इस पर वह बोली, 'रहने दो, बनाने की जरूरत नहीं, ऐसे ही दे दो।' तब जैसे सीधा सजाते हैं, वैसे ही उसे घी, मैदा, आलू, परवल आदि सब दिया।"

एक अध्याय का पाठ हो जाने पर सरला दीदी बीमार गोलाप-माँ की सेवा में चली गयीं। माँ ने धीमे स्वर में कहा, "ठाकुर भगवान को छोड़कर अन्य किसी विषय पर बोलते ही नहीं थे। मुझसे कहते, 'देखती हो न, मनुष्य की देह क्या है! अभी है, अभी नहीं, फिर संसार में आकर वह कितना दुःख और कितना ताप पाता है! इस शरीर को फिर पैदा ही क्यों किया जाय? एक भगवान ही नित्य सत्य हैं, उन्हें पुकार पाना अच्छा है। देह धारण करने से ही तरह तरह के झंझट उठाने पड़ते हैं।' उस दिन विलास (स्वामी विश्वेश्वरानन्द) ने आकर कहा, 'हम लोगों को कितनी सावधानी से रहना पड़ता है माँ, कहीं मन में कुछ उठे इस भय से भी सतर्क रहना पड़ता है।' तभी तो, उसका है सफेद कपड़ा और संसारी का है काला कपड़ा। काले कपड़े पर स्याही गिर जाय तो उतना स्पष्ट दिखता नहीं, परन्तु सफेद कपड़े पर एक बूँद भी गिर जाय तो सबकी निगाह में आ जाता है। देह धारण करने से ही संकट है। संसार तो इस काम-कांचन पर ही आश्रित है। उन (साधु) लोगों को कितना त्याग करके चलना पड़ता है। इसीलिए ठाकुर कहते थे, 'साधु, सावधान'।"

इसी बीच हरिहर महाराज ठाकुर को भोग देने आये हैं। उनकी ओर इंगित करके माँ कह रही हैं, "यह देखो एक त्यागी लड़का, ठाकुर का नाम लेकर निकल आया है। संसारी लोग केवल दर्जन भर बच्चे ही पैदा करते रहते हैं, मानो वही एक कार्य हो। ठाकुर 'दो-एक बच्चे हो जाने के बाद संयम से रहने को' कहा करते थे। सुना है कि अंग्रेज लोग अपनी आर्थिक अवस्था को देख-समझकर ही बच्चे पैदा करते हैं – यह जो सम्पत्ति है, इसमें एक ही सन्तान हो तो ठीक से चलेगा और उसके होने के बाद स्त्री-पुरुष दोनों ही अपना अपना काम लेकर अलग अलग रहते हैं। और जरा हमारे देश में तो देखो!"

माँ हँसते हँसते कह रही हैं, "कल एक बहू आयी थी, बेटी। उसकी गोद में और पीठ पर कितने सब छोटे छोटे बच्चे थे, अच्छी तरह सम्भाल भी नहीं पा रही थी। तिस पर कहती है, 'माँ, संसार अच्छा नहीं लगता।' मैंने कहा, 'यह कैसी बात जी, तुम्हारे इतने सारे कच्चे-बच्चे जो हैं!' इस पर वह बोली, 'बस यहीं तक, और नहीं होंगे।' मैंने कहा, 'ऐसा यदि कर सको तो अच्छा ही है।' यही कहकर वे हँसने लगीं।

मैं – अच्छा माँ, संसार में स्त्रियों के लिए तो पति ही परम पूज्य तथा गुरु है। शास्त्र कहते हैं कि उसकी सेवा से सालोक्य, सायुज्य तक की उपलब्धि हो जाती है। कोई स्त्री

यदि उसी पति के मत के विरुद्ध अनुनय-विनय अथवा सदालाप के द्वारा संयमी होने का प्रयास करे, तो क्या इससे पाप लगता है?

माँ – भगवान के लिए होने से कोई पाप नहीं होता है बेटी। क्यों होगा? इन्द्रिय-संयम चाहिए, विधवाओं के लिए इतनी सारी जो व्यवस्थाएँ दी गयी हैं, वे सब इन्द्रिय-संयम के लिए ही तो हैं। ठाकुर का किसी भी विषय में भगवान को छोड़कर कुछ नहीं था। मुझे जो शंख की चूड़िया, वस्त्र आदि देकर उन्होंने षोडशीपूजा की थी, उन्हें किसे दूँ – मेरी कोई गुरुमाता तो थीं नहीं। ठाकुर से पूछने पर उन्होंने सोचकर कहा, 'इन्हें अपनी गर्भधारिणी माँ को दे सकती हो (उस समय पिता जीवित थे); परन्तु उन्हें मनुष्य समझकर नहीं, साक्षात जगदम्बा समझकर देना।' उनकी शिक्षानुसार मैंने वैसा ही किया।

शोकहरण माँ को हर महीने पाँच रुपये दिया करता था, वह उन्हें देने के लिए उसने मुझे दे रखा था। देते ही माँ ने कहा, "रहने दो बेटी, इस बार उसे कष्ट है, इस बार नहीं भी दिया तो क्या!"

मैं – कितने ही प्रकार से कितने रुपये खर्च हो जाते हैं माँ, यह तो ज्यादा कुछ नहीं है। जो आपकी सेवा में दे सकता है, उसी के मन को तृप्ति होती है, नहीं तो ...

माँ – "हाँ, सो तो है। यहाँ देने से साधु-भक्तों की सेवा में लगता है।"

मैं मालपुए बनाकर ले गयी थी। उन्होंने उसे खोलकर ठाकुर के पास रख देने को कहा। रात काफी हो गयी थी। लगभग साढ़े दस बजे थे, भोग लग चुका था। माँ के भोजन के बाद मैं प्रसाद लेकर विदा हुई। □ (क्रमशः) □

शिक्षित युवकों का कर्तव्य

यह सनातन धर्म का देश है। यह देश गिर अवश्य गया है, परन्तु निश्चय ही फिर उठेगा। और ऐसा उठेगा कि दुनिया देखकर दंग रह जाएगी। देखा नहीं है, नदी या समुद्र में लहरें जितनी नीचे उतरती हैं, उतनी ही जोर से ऊपर उठती हैं। यहाँ पर भी वैसा ही होगा। देखते नहीं पूर्वाकाश में अरुणिमा फैल गयी है, सूर्योदय में अब अधिक विलम्ब नहीं है। तुम लोग अब कमर कसकर तैयार हो जाओ। केवल गृहस्थी करने से क्या होगा? इस समय तुम लोगों का कर्तव्य है – प्रान्त प्रान्त में, गाँव गाँव में जाकर लोगों को समझा देना कि अब आलस्य के साथ बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। सभी को जाकर समझा दो कि ब्राह्मणों के समान ही तुम्हारा भी धर्म में समान अधिकार है। चाण्डाल तक को इस अग्निमंत्र में दीक्षित करो और सरल भाषा में उन्हें व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि गृहस्थ-जीवन के अत्यावश्यक विषयों का उपदेश दो। अन्यथा तुम्हारी लिखाई-पढ़ाई को धिक्कार है और तुम्हारे वेद-वेदान्त पढ़ने को भी धिक्कार है।

– स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (२)

भगिनी निवेदिता

(इंग्लैण्ड के आयरलैंड प्रान्त में जन्मी कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके व्यक्तित्व तथा विचारों से प्रभावित होकर भारत आयीं । उन्होंने अपनी एक छोटी-सी अंग्रेजी पुस्तिका में बताया है कि स्वामीजी ने किस प्रकार प्रशिक्षण देने के बाद, उन्हें भारतमाता की सेवा में निवेदित किया । प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

२. नैनीताल तथा अल्मोड़ा में

व्यक्ति — स्वामी विवेकानन्द, उनके गुरुभ्रातागण तथा शिष्यमण्डली और यूरोपियनों की एक टोली, जिसमें धीरामाता, जया तथा निवेदिता हैं ।

स्थान — हिमालय समय — ११ से २५ मई, १८९८ ई०

११ मई । हम लोग एक बड़ी टोली या सच कहें तो दो टोलियों के रूप में हैं । बुधवार की सन्ध्या को हावड़ा स्टेशन से चलकर शुक्रवार को प्रातःकाल हिमालय के सम्मुख जा पहुँचे, जिसकी चोटियाँ ऐसा लगता था मानो कुछ सौ गज दूरी पर ही सहसा मैदानों से निकल पड़ी हों ।

१४ से १६ मई । तीन घटनाओं ने हमारे नैनीताल प्रवास को आनन्दमय बना दिया था – स्वामीजी द्वारा अत्यन्त आह्लादपूर्वक खेतड़ी के राजा के साथ हमारा परिचय कराना, दो नर्तकी महिलाओं द्वारा हमसे पता पूछकर स्वामीजी से मिलने जाना, अन्य लोगों के विरोध के बावजूद स्वामीजी द्वारा उनका सप्रेम स्वागत और एक मुसलमान सज्जन का यह कहना, "स्वामीजी, यदि भविष्य में कोई आपको अवतार कहकर घोषणा करे, तो स्मरण रहे कि मैं एक मुसलमान उनमें से प्रथम हूँ ।"

यहीं पर हमें उनसे राजा राममोहन राय के विषय में बहुत-सी बातें सुनने को मिलीं, जिनमें इन तीन तत्त्वों को उन्होंने इन आचार्य की शिक्षा के मूल सूत्र के रूप में व्यक्त किया – उनका वेदान्त ग्रहण, स्वदेश-प्रेम का प्रचार और हिन्दू-मुसलमानों के साथ समभाव से प्रीति । उन्होंने बताया कि इन विषयों में राजा राममोहन राय की उदारता तथा दूरदर्शिता ने जिस कार्यप्रणाली का निर्धारण किया था, वे स्वयं भी उसी के आधार पर चल रहे हैं ।

नर्तकियों से सम्बन्धित घटना हमारे नैनी सरोवर के ऊपर स्थित दो मन्दिरों का दर्शन करते समय हुई थी । ये दोनों मन्दिर स्मरणातीत काल से ही तीर्थ का रूप लेकर सुन्दर नैनीताल को पवित्र बनाये हुए हैं । यहाँ पूजा करते समय हमारी दो नर्तकियों से भेंट हुई । पूजा समाप्त करके वे हमारे पास आयीं और और हम अपनी टूटी-फूटी भाषा में उनके साथ वार्तालाप में लग गयीं । हमने उन्हें नगर की सम्मानित महिलाएँ समझा और बाद में स्वामीजी द्वारा उन्हें बहिष्कृत करने से इन्कार कर देने पर वहाँ उपस्थित लोगों में जो

तूफान मच गया था, उस पर हमें अत्यन्त विस्मय हुआ । अगर मैं भूल नहीं करती हूँ तो नैनीताल की इन्हीं नर्तकियों के सन्दर्भ में उन्होंने हमें पहली बार खेतड़ी की नर्तकीवाली घटना सुनायी थी, जो बाद में हमें अनेकों बार सुनने को मिली थी । वे उसका नृत्य देखने का आमंत्रण पाकर पहले तो नाराज हुए थे, परन्तु काफी अनुरोध के बाद वहाँ उनके सभा में जाने पर नर्तकी ने गाया था –

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो,
समदरशी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो ।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो,
पारस गुन अवगुन नहीं चितवे, कंचन करत खरो ।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरो,
जब दोनों मिल एक बरन भये, सुरसरि नाम परो ।
इक माया इक ब्रह्म कहावत सूर-श्याम झगरो,
अज्ञान से भेद होवे, ज्ञानी काहे भेद करो ।

और तब, स्वामीजी ने स्वयं बताया कि इसके साथ ही उनकी आँखों के सामने से मानो एक परदा-सा उठ गया, उन्होंने देखा कि सचमुच ही सब एक हैं और तब से उन्होंने किसी की भी निन्दा करनी छोड़ दी ।

और इस मन्दिर से सम्बन्धित घटना को जया ने किसी अन्य के मुख से सुना कि वक्ता ने जब समवेत महिलाओं के प्रति बिना किसी भेदभाव या तिरस्कार के अपनी शक्तिपूर्ण भाषा में स्नेह तथा कोमलतापूर्ण बातें कहीं, तो वहाँ उपस्थित सभी का हृदय आन्दोलित हो उठा ।

सोमवार, १६ मई । अपराह्न में काफी विलम्ब से हमने नैनीताल से अल्मोड़ा के लिए प्रस्थान किया और हमारे जंगल से होकर यात्रा करते समय ही रात घिर आयी । परन्तु हम सड़क को पकड़कर विशाल वृक्षों की छाया में चलते हुए कभी गहरी घाटियों में नीचे उतरते और फिर पहाड़ियों के किनारे किनारे फिर ऊपर आ जाते । बाघों तथा भालुओं को दूर रखने के लिए हमारे आगे आगे सदा मशालें तथा लालटेनें चल रही थीं । जब तक दिन का उजाला था, हमने गुलाब के जंगल तथा सोतों के आसपास महीन पत्तियोंवाले फर्न और जंगली अनार की झाड़ियों को लाल फूलों से लदे देखा । परन्तु रात हो जाने के बाद हमारे लिए केवल इनके तथा हनीसकल का सुगन्ध ही बच रहा था । हम केवल नीरवता, नक्षत्रों के आलोक तथा पहाड़ों की गरिमा से ही सन्तुष्ट होकर अग्रसर होते रहे । आखिरकार हम पहाड़ के किनारे एक विचित्र स्थान में वृक्षों के बीच स्थित डाकबँगले में पहुँच गये । थोड़ी देर बाद स्वामीजी भी अपनी टोली के साथ आ पहुँचे । वे आनन्द से उत्फुल्ल थे और अपने मेहमानों की सुविधा से सम्बन्धित छोटी-मोटी बातों की ओर भी उनका पूरा ध्यान था और बाहर आग के चारों ओर बैठा कुलियों का दल, घोड़ों के हिनहिनाने की आवाज, निकट ही स्थित गरीबों की बस्ती, वृक्षों की मरमर-ध्वनि और वन में फैला गहन अँधेरा – रात की यह विचित्र दृश्यावली कवित्व के भाव से परिपूर्ण थी ।

मंगलवार, १७ मई । प्रातःकाल जलपान के समय हमारे पास आकर कई घण्टे वार्तालाप में बिताना स्वामीजी की पुरानी दिनचर्या थी । हमारे अल्मोड़ा पहुँचने के दिन से ही स्वामीजी ने अपनी यह दिनचर्या पुनः आरम्भ की । उन दिनों, और प्रायः सर्वदा ही उनकी निद्रा बड़ी अल्प थी । वे जो इतने सबेरे हमारे पास आते, वह बहुधा और भी भोर में संन्यासियों के साथ अपने भ्रमण के पश्चात लौटते समय होता । कभी कभी, पर बहुत कम, वे संध्या के समय भी हमें दिख जाते, या तो उस समय वे भ्रमण के लिए निकलते अथवा हम स्वयं ही कैप्टेन सेवियर के बँगले पर जाकर उनसे भेंट करते, जहाँ वे अपनी टोली के साथ निवास कर रहे थे । और उन दिनों केवल एक बार ही अपराह्न के समय हमसे भेंट करने आये थे ।

अल्मोड़ा के इन प्रातःकालीन वार्तालापों में एक नवीन तथा अननुभूत तत्त्व भी आ गया था, जिसकी स्मृति कष्टदायी होकर भी शिक्षाप्रद है । इसमें एक तरफ मानो एक विचित्र-सी कटुता तथा अविश्वास और दूसरी तरफ झल्लाहट व हठ का भाव था । पाठकों को यहाँ स्मरण रखना होगा कि स्वामीजी के वहाँ उपस्थित शिष्यों में सबसे छोटी एक अंग्रेज महिला (स्वयं निवेदिता) थी । और विचारधारा की दृष्टि से इस घटना का महत्व कितना है, कितने प्रबल पक्षपात के साथ अंगरेज लोग भारत को समझने का प्रयास करते हैं और वे लोग अपनी जाति, अपनी कीर्तिकलाप तथा इतिहास को कैसे अन्ध-गौरव की दृष्टि से देखते हैं – इस विषय में उक्त शिष्या के मठ में दीक्षित होने के परवर्ती दिन तक स्वामीजी को कोई स्पष्ट धारणा न थी । उसी दिन स्वामीजी ने उल्लास-पूर्वक उससे प्रश्न किया था, "अब तुम किस देश की हो?' तो उत्तर सुनकर स्वामीजी विस्मित रह गये । उन्होंने पाया कि अब भी वह अंग्रेजों की राष्ट्रीय पताक़ा को ही श्रद्धा व भक्ति की दृष्टि से देखती है, उन्होंने देखा कि एक भारतीय महिला का अपने इष्टदेवता के प्रति जो भाव होता है, वही भाव उसका उस ध्वज के प्रति है । कहा जा सकता है कि स्वामीजी का तात्कालिक विस्मय तथा आशाभंग होना उसी समय व्यक्त नहीं हुआ। बस, एक विस्मयपूर्ण दृष्टि मात्र और कुछ भी नहीं और वे शिष्या किस प्रकार सतही तौर पर उनकी टोली में सम्मिलित हुई है यह जानकर भी बंगाल में निवास के बाकी कुछ सप्ताहों के दौरान उनकी आस्था तथा सौजन्य में जरा-सा भी ह्रास नहीं आया था ।

परन्तु अल्मोड़ा में आकर ऐसा लगा मानो अब एक नया पाठ शुरू हो गया है । और जैसे विद्यार्थी को पाठशाला की शिक्षा प्रायः अप्रीतिकर ही लगती है, वैसे ही यहाँ भी वह अत्यन्त कष्टसाध्य होने पर भी यह बात हृदयंगम हुई की अपूर्ण दृष्टिकोण को पूर्णतः छोड़ना आवश्यक है । एक मन से उसके स्वाभाविक भावकेन्द्र का त्याग कराना होगा । इससे अधिक और कुछ नहीं किया गया । कभी कोई धारणा या मत बलपूर्वक आरोपित करने का प्रयास नहीं हुआ, केवल एकांगीपने से दूर रखने का प्रयास हुआ था । इस भयानक परीक्षा के अन्त में भी शिष्या के नवीन विश्वास तथा मत की क्या परिणति हुई, यह जानने की भी उन्हें कोई उत्सुकता नहीं थी और जहाँ जाति तथा देश का प्रश्न जुड़ा है, उन सब क्षेत्रों में शिक्षा की इससे जबरदस्तः किसी प्रणाली का और कहीं आश्रय नहीं लिया गया है । स्वामीजी ने पूरे विषय का फिर कभी उल्लेख तक नहीं किया । उनकी

श्रोत्री को भी इसके बाद से छुटकारा मिल गया । परन्तु उनकी चिन्तन-प्रणाली तथा अनुभूतिगत पार्थक्य इतने पूर्ण तथा प्रबल भाव से व्यक्त हुए थे कि शिष्या के लिये मानसिक राज्य में निश्चेष्ट रह पाना असम्भव हो गया था और आखिरकार अपनी स्वयं के प्रयासों से उसने एक ऐसे भाव तथा आदर्श का आविष्कार कर लिया था, जो इन दोनों आंशिक मतों का न्यायसंगत समन्वय तथा व्याख्यास्वरूप था ।

कई सप्ताह बाद एक बार किसी घटना के प्रसंग में उक्त शिष्या का निरपेक्ष मत जानने का प्रयास करने पर अत्यन्त हताश होकर स्वामीजी कह उठे, "वस्तुत: तुम्हारे जैसा स्वदेशप्रेम तो पाप है ! मैं चाहता हूँ कि तुम इतनी-सी बात समझ लो कि अधिकांश लोग स्वार्थ की प्रेरणा से ही कार्य किया करते हैं और तुम निरन्तर इसका प्रतिरोध करती हुई कहती हो कि एक राष्ट्र-विशेष के सभी लोग देवतुल्य हैं । अज्ञान के प्रति ऐसी दृढ़ता तो दुर्बलता का द्योतक है !"

एक अन्य विषय पर अर्थात स्त्रीजाति के प्रति पाश्चात्य लोगों की आधुनिक धारणा के विषय में इस शिष्या ने बड़े हठ का परिचय दिया था । मन की जिस उदार तथा नि:स्वार्थ अवस्था में लोग सत्य को ग्रहण करते हैं, उसकी तुलना में इन दोनों स्थलों पर अपनी सीमाबद्ध सहानुभूति की अभिव्यक्ति अब इस शिष्या को अत्यन्त तुच्छ तथा हीनबुद्धि से उपजा प्रतीत होता है । परन्तु उस समय वह संकीर्णता वास्तव में ही गन्तव्य-पथ की एक महान बाधा बन गयी थी और उसके सामने जिस आदर्श मानवत्व का अभिनय चल रहा था, उसके बीच में कोई भी आवरण आने देना निर्बुद्धिता है – यह बात हृदयंगम न होने तक वह बाधा दूर नहीं हुई । एक बार इसे समझ लेने के बाद वे जिन समस्त बातों को मान लेने तथा समझ लेने में अक्षम हो जातीं, उनके प्रति भी वे सहज ही निरपेक्ष रह पाती और उस विषय में अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना कालसापेक्ष है ऐसा सोचकर निश्चिन्त रह पातीं । हर क्षेत्र में ही कोई-न-कोई पूर्व संस्कार या आदर्श उनके मन पर अधिकार जमाकर सहानुभूति की अबाध गति में बाधा उत्पन्न करता । और चिरकाल से ऐसा ही तो होता आया है । युगविशेष के पूजित भावों से ही तो परवर्ती युग की श्रृंखलाओं का निर्माण होता है ।

अत: अल्मोड़ा की ये प्रात:कालीन चर्चाएँ हमारी पुरानी सामाजिक, साहित्यिक तथा ललितकला विषयक बद्धमूल धारणाओं के साथ संघर्ष का रूप धारण करतीं अथवा उनमें भारतीय तथा यूरोपीय इतिहास और अन्य उच्च भावों की तुलना चलती, जिनके दौरान हमें प्राय: ही प्रसंग के अनुसार अति मूल्यवान विचार भी सुनने को मिलते । स्वामीजी की एक विशेषता यह थी कि जब वे किसी देश या समाज-विशेष के बीच रहते तो उसके दोषों की व्यक्त तथा तीव्र रूप में समालोचना करते, परन्तु वहाँ से लौट आने के बाद लगता कि उनके मन में केवल वहाँ के गुणों की धारणा ही शेष है । वे सर्वदा ही अपने शिष्यों की परीक्षा लेते और उल्लेखित चर्चाओं के दौरान जिस रीति का अवलम्बन किया गया था, वह सम्भवत: एक ही यूरोपीय महिला के साहस तथा निष्कपटता की परीक्षा लेने के उद्देश्य से हुआ था । □ **(क्रमश:)** □

हमारी शिक्षा (२)

स्वामी निर्वेदानन्द

(पिछले हजार वर्षों की दासता के दौरान भारत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली ध्वस्त हो गयी थी और उसके स्थान पर लार्ड मैकाले द्वारा परिकल्पित तथा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रणाली ही कमो-बेश आज तक चली आ रही है। स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण मिशन की शिक्षा-सम्बन्धी गतिविधियों पर 'प्रबुद्ध भारत' के १९२८ ई. के छः अंकों में एक लेखमाला प्रकाशित करायी थी और बाद में उसके परिवर्धन तथा सम्पादन के उपरान्त उसे एक पुस्तक का रूप दिया। १९४५ ई. में अपने प्रथम प्रकाशन के बाद से आज तक यह ग्रन्थ अपने विषय पर एक महत्वपूर्ण कृति बनी हुई है। 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। — सं.)

३. स्पष्ट कमियाँ (जारी)

सांस्कृतिक तथा आर्थिक

"वाह! ग्रेजुएट बनने के लिए क्या दौड़धूप, क्या अहमहमिका लगी है, और कुछ दिन बाद फिर ठण्डी पड़ जाती है। और आखिरकार वे सीखते भी क्या हैं – बस यही कि हमारा धर्म, हमारा आचार-विचार और रीति-रिवाज सब खराब हैं और पाश्चात्यों की सब बातें अच्छी हैं! और अन्ततः इससे वे अपनी रोजी-रोटी भी नहीं जुटा पाते!" — *स्वामी विवेकानन्द*

हम पहले ही कह आये हैं कि शिक्षा की वर्तमान पद्धति हमारी जनता के सांस्कृतिक तथा आर्थिक जरूरतों की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। इसमें सुधार के लिए सलाह देने के पूर्व हमें पहले इन जरूरतों को समझना होगा।

भारत की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है। प्राचीन काल के ऋषियों द्वारा अनेक शताब्दियों के शोध के उपरान्त प्राप्त हुए कतिपय विचारों तथा आदर्शों के ऊपर इसकी सभ्यता का पूरा ढाँचा खड़ा है। ये विचार तथा आदर्श मनुष्य के आध्यात्मिक विकास से जुड़े हुए हैं।

आन्तरिक मनुष्य के विकास पर ही व्यक्ति और साथ-ही समाज का भी हित निर्भर करता है। सच्चे आनन्द का उपभोग करने अथवा दूसरों के आनन्द में यथेष्ट योगदान करने के पूर्व हमें अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर विजय पा लेना होगा। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति आनन्द तथा प्रत्येक समाज शान्ति की कामना करता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में निरन्तर आत्मशुद्धि का प्रयास चलते रहना चाहिए, क्योंकि इसके बिना किसी को भी शान्ति या आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्मशुद्धि के बाद मनुष्य वास्तविक रूप से दिव्य हो जाता है। तब उसकी उच्चतर आत्मा अपने असीम प्रेम,

ज्ञान तथा आनन्द की महिमा से आलोकित हो उठती हैं । यही वह लक्ष्य और आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा है, जिसकी ओर हर व्यक्ति को सचेतन भाव से अग्रसर होना चाहिए ।

आध्यात्मिक उन्नति की इसी प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हिन्दू समाज में जीवन के प्रत्येक स्तर को समायोजित किया गया था । एक ऐसा सामाजिक ढाँचा खड़ा किया गया था, जिससे प्रत्येक व्यक्ति एक सामान्य हित में अपना अधिकाधिक योगदान करते हुए इसके साथ ही पूर्णता की ओर भी दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो सके । जीवन को एक सजीव समष्टि के रूप में देखा गया और इसकी सारी गतिविधियों को इस प्रकार नियंत्रित किया गया था, जिससे समाज तथा व्यक्ति – दोनों की ही पूर्णता के आदर्श की ओर प्रगति हो सके ।

प्राचीन काल में सामाजिक स्तर का निर्धारण धन अथवा बाहुबल से नहीं, बल्कि आध्यात्मिक विकास के द्वारा किया जाता था । आध्यात्मिकता के रक्षक ब्राह्मणों को सामाजिक ढाँचे के शीर्ष पर रखा गया था । सेना, पूँजी तथा श्रम का प्रतिनिधित्व करनेवाले क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र – ये सभी आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत वर्ग के द्वारा बनाये गये नियमों से परिचालित होते थे । विभिन्न सामाजिक वर्गों को अनिश्चित रूप से सैन्य निरंकुशता, व्यावसायिक लोभ अथवा दासोचित मूर्खता में बरबाद होने से बचाकर, उनकी विभिन्न सामाजिक शक्तियों को नियंत्रित करके व्यक्तिगत पूर्णता तथा एक सामान्य हित की केन्द्रीय आवश्यकता को ओर परिचालित किया जाता था । सुसंस्कृत वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन व्यवहार्यत: आध्यात्मिक साधना के चार स्तरों के द्वारा त्याग एवं सेवा के आदर्श का एक क्रमिक विकास था । विवाह गृहस्थ के लिए इन्द्रियपरता के लिए छूट नहीं, बल्कि वैयक्तिक पूर्णता तथा सामाजिक हित के लिए एक आवश्यक साधना थी । सम्पत्ति को इन्द्रिय-भोग के एक असीम साधन के रूप में नहीं, बल्कि एक न्यास की भाँति रखा जाता था । मनुष्य के जीवन का उद्देश्य केवल खाना, पीना और मौज उड़ाना मात्र नहीं था । केवल भौतिक उत्कर्ष के लिए ही वह अपनी सारी शक्तियों तथा उच्चतर भावों को नहीं खर्च करता था । मनुष्य के लिए भोजन इस कारण आवश्यक माना जाता था, ताकि वह आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित होने के लिए जीवन-धारण कर सके । भारत ने ऐसा अनुभव किया कि केवल स्थूल शरीर के पोषण हेतु अन्तरात्मा को भूखे रखना उचित नहीं होगा, क्योंकि वह निश्चित रूप से व्यक्ति तथा उसके सामुदायिक जीवन में दु:खों की सृष्टि करेगा । अत: सम्पत्ति के अर्जन तथा उसके उपयोग को इस प्रकार सुनियोजित किया गया था कि वह आन्तरिक विकास में बाधक न हो ।

इस नैतिक प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त था – जीवनयापन के लिए उचित साधन । आर्थिक क्षेत्र में लड़ाई-झगड़े, संघर्ष तथा स्पर्धा को काफी हद तक नियंत्रित कर लिया गया था । प्रत्येक ग्राम्य समुदाय को लगभग एक स्वावलम्बी इकाई बना लिया गया था । विशिष्ट जातीय वर्गों के लिए विभिन्न व्यवसाय निर्धारित कर दिये गये थे और खेती सार्वभौमिक रूप से आय का एक परिपूरक स्रोत था । रोजी-रोटी कमाना सहज

बना दिया गया था, ताकि सभी को आत्मोन्नति के लिये पर्याप्त समय मिल सके। इस प्रकार हमारे पूर्वज गाँवों के शान्त वातावरण में आजीविका के लिये न्यूनतम तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए अधिकतम चिन्ता के साथ एक सहज तथा सन्तोषपूर्ण जीवन बिताया करते थे।

त्याग और सेवा को एक ऐसा मार्ग बना दिया गया था, जिससे होकर हमारा राष्ट्रीय जीवन हजारों वर्षों तक प्रवाहित होता रहा। स्वार्थ तथा विषयभोगों के प्रति हमारे स्थूल शरीर के स्वाभाविक आकर्षण के चलते, निश्चय ही समय समय पर इस राष्ट्रीय धारा में गिरावट और यहाँ तक कि रुकावट भी आयी। परन्तु इसके चुने हुए मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा देने हेतु आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शकों के अवतरण में कभी विलम्ब नहीं हुआ। बदलते हुए परिवेश की माँगों के अनुसार बाह्य रूपों, अनुष्ठानों तथा सामाजिक ढाँचे को पुनः समायोजित कर लिया गया; परन्तु मानवीय परिपूर्णता के आदर्श, सत्य-पवित्रता-प्रेम व भक्ति के सिद्धान्त और त्याग-सेवा की पद्धति का कभी त्याग नहीं किया गया।

आज हम एक सांस्कृतिक विध्वंस के कगार पर खड़े हैं। विश्व के उन्नत देशों की भौतिक समृद्धि ने हमारी आँखें चौंधिया दी है और हम अपनी सांस्कृतिक आधारभूमि से बहक रहे हैं। उन लोगों की सभ्यता धन तथा सत्ता के प्राथमिक सिद्धान्तों पर आश्रित है। अहमिका ही उनके व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय जीवन का मूलमंत्र है। वहाँ के बहुत से लोगों के लिए धर्म मनबहलाव के लिए एक अनुष्ठान और नैतिकता व्यक्तिगत जीवन का एक आभूषण मात्र है। उनकी दृष्टि में जीवन को इन्द्रियों तथा बुद्धि के द्वारा मर्यादित होना चाहिए। किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र की सफलता उसके द्वारा संचित धन तथा दूसरों पर उसकी सत्ता से मापी जाती है। अत: आधुनिक राष्ट्र – त्याग और सेवा के स्थान पर अहमिका तथा स्पर्धा के मार्ग पर ही परिचालित हो रहे हैं। हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली एक ऐसी ही संस्कृति पर आधारित है। अतएव इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि आज का शिक्षित भारत आधुनिक सभ्यता के सम्मोहन-जाल में पड़कर खुली बाँहों के साथ इस संस्कृति का स्वागत कर रहा है। हमारे बहुत से देशवासी भारतीय संस्कृति में कुछ भी अच्छा या श्रेष्ठ नहीं देख पाते और वे हमारी पूरी सामाजिक-आर्थिक संरचना को नये सिरे से आधुनिक राष्ट्रों के साँचे में ढालने को प्रस्तुत हैं।

दूसरी तरफ, हमारे समुदाय का एक अन्य वर्ग आत्मशुद्धि के द्वारा आध्यात्मिक विकास की केन्द्रीय आवश्यकता को नजरंदाज करके, हर प्रकार के बाह्य रूपों तथा संरचनात्मक विवरण को हठपूर्वक पकड़े हुए है। आध्यात्मिक जीवन के अन्तर्दृष्टि से रहित बाह्य आकृतियों से लगाव ने एक सांस्कृतिक विरोधाभास को जन्म दिया है। घृणा, द्वेष, असहिष्णुता, क्रूरता, मिथ्याचार, स्वार्थ आदि ने धर्म का छद्मवेश धारण कर लिया है। इसने समाज में विध्वंसात्मक शक्तियों को उन्मुक्त कर दिया है। केन्द्रीय एकता का सूत्र खो बैठने के कारण ही आज एक सम्प्रदाय के लोग अन्य सम्प्रदायों के साथ और एक जाति के लोग अन्य जातियों के साथ संघर्ष में जुटे हुए हैं। हमारी महिमामय संस्कृति के तात्पर्यों से अनभिज्ञ लोग आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल हो गये हैं और निम्नतर

अहं ने उनके मानस पर अधिकार जमा लिया है। आध्यात्मिक संस्कृति के अभाव में वे दिन-पर-दिन स्वार्थ-केन्द्रित भौतिक दृष्टिकोण की ओर खिंचते जा रहे हैं और इसके फलस्वरूप धन या सत्ता के आकर्षण से उनके अपने सांस्कृतिक लीक से अधिकाधिक हट जाने की सम्भावना बढ़ती जा रही है। यह गति पहले ही आरम्भ हो चुकी है और हमारा वर्तमान सामाजिक ढाँचा इतना जर्जर हो चुका है कि वह इस गति को रोकने में सक्षम नहीं है। हमारे समाज का एक अंग जान-बूझकर आध्यात्मिक विकास के इस केन्द्रीय भाव को छोड़ता जा रहा है, जबकि दूसरे अंग की बेजान अँगुलियों के बीच से यह अज्ञात भाव से खिसका जा रहा है। और इस देश में ऐसी कोई सर्वमान्य सत्ता भी नहीं है, जो इस सांस्कृतिक बिखराव के आसन्न खतरे तथा तज्जनित जातीय विलुप्ति से समाज की रक्षा कर सके। उन्नत राष्ट्रों के सम्मिलित औद्योगीकरणवाद ने हमारे समाज को इस अवस्था में पहुँचा दिया है और स्वावलम्बी ग्राम्य समुदाय को बचाये रखना काफी कुछ असम्भव बना दिया है।

विज्ञान ने चमत्कारों की सृष्टि की है। दूर के राष्ट्र हमारे पड़ोसियों में परिणत हो गये हैं। प्राकृतिक सीमाएँ अब किसी देश को बाकी विश्व से अलग नहीं रख सकतीं। किसी राष्ट्र का आर्थिक जीवन केवल उसी देश तक ही सीमित नहीं रह गया है। उसे विश्व की आर्थिक ताकतों का सामना करना पड़ता है। दूर-दराज के किसी भारतीय गाँव के गाड़ीवान को इस कारण मोटर-चालकों की सेना में भरती होना पड़ता है कि अब उसके पड़ोस के गाड़ीवाले से कहीं अधिक उस पर अमेरिकी मोटर-नरेश का जोर चलता है।

पूरा विश्व ही वस्तुत: एक बृहत बाजार में परिणत हो गया है, जहाँ स्पर्धा ही किसी भी राष्ट्र के जीवन या मृत्यु का निर्धारण करती है। व्यवहार्यत: विश्व-बाजार उन्नत राष्ट्रों के अधिकार तथा नियंत्रण में है। अविराम अपने आर्थिक क्षेत्र का विस्तार करते जाना ही उनका मुख्य ध्येय प्रतीत होता है और इसकी पूर्ति के लिये वे बेहिसाब पूँजी का केन्द्रीकरण कर रहे हैं, सुव्यवस्थित प्रशिक्षण के द्वारा श्रम की कुशलता को बढ़ा रहे हैं, श्रम को बचाने के लिए विज्ञान का उपयोग कर रहे हैं और उद्योग तथा वाणिज्य के विशाल संगठनों का निर्माण कर रहे हैं। कच्चे माल की खोज में वे पृथ्वी का कोना कोना छान डालते हैं और अपने तैयार माल के लिए बाजार पाने हेतु कुछ भी उठा नहीं रखते।

अब ऐसा कौन है, जो गाँवों के समूह के चारों ओर एक लक्ष्मण-रेखा खींच कर वस्तुओं का आवागमन रोक सके ! ग्रामीण संरचना का केन्द्रीय सिद्धान्त भूल जाने के कारण अब हमारी जनता इसकी आवश्यकता भी महसूस नहीं करती। इसके अतिरिक्त रोटी की समस्या बड़ा प्रबल रूप धारण कर चुकी है। उनके पुराने उद्योग-धन्धों से पैसा नहीं मिलता; क्योंकि उन्हें विदेशी उत्पादकों के साथ स्पर्धा करनी पड़ती है, जिनकी वस्तुएँ अधिक सस्ती तथा आकर्षक हैं। 'सादा जीवन उच्च विचार' का आदर्श दिन-ब-दिन अतीत की वस्तु होती जा रही है। आधुनिक जगत ने हमारे जीवन को जटिल तथा हमारी अभिरुचियों को उन्नत बना दिया है। हम उत्कृष्ट वस्तुओं के लिए लालायित हैं और वे सस्ती भी होनी चाहिए। दूसरे देशों में बनी सस्ती तथा आकर्षक वस्तुओं के

लिए हमारे द्वार खुले होने के कारण ऐसा कौन है जो इस विशाल देश की रुचियो तथा शौकों को प्राचीन या यहाँ तक कि मध्यकालीन भारत की चहारदीवारियों में बन्द रख सके? पोर्सिलीन, काँच तथा एनामेल के पात्र मिट्टी के बर्तनों का स्थान लेते जा रहे हैं; कुम्हार की चाक अब ठहरकर संग्रहालय में स्थान पाने जा रही है। मिल तथा कारखाने सस्ता माल तैयार करते हैं और वे हमारे दस्तकारों को बेदखल करने जा रहे हैं। जुलाहे को अपने वस्त्रों के लिए बाजार नहीं मिलता और न ही लोहार अपनी भट्ठी से जुड़ा रह सकता है। उन्हें आय के नये स्रोत ढूँढ़ने होंगे, नहीं तो वे भूखों मर जायेंगे। केवल जीवन-धारण के लिए वे अपना धन्धा तथा गाँव छोड़कर सम्भवत: किसी मिल या कारखाने में मजदूर होने के लिए भाग रहे हैं। पेट भरने को मिल जाय, तो उन्हें अपने सामाजिक लीक को छोड़ने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

इस प्रकार आधुनिक आर्थिक शक्तियों के प्रभाव से भारत धीरे धीरे, परन्तु निश्चित रूप से बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण की ओर अग्रसर हो रहा है। मिल तथा कारखाने बनते जा रहे हैं और वे वस्तुत: किसानों तथा दस्तकारों में से दल-के-दल मजदूरों को आकृष्ट कर रहे हैं। लगता है कि आधुनिक विज्ञान के अन्य उपहारों के समान ही वे भी यहाँ ठहरकर विकसित होते हुए हमारी ग्रामीण संरचना को पूर्णत: विशृंखलित करने आये हैं। बहुत-से लोग गम्भीरतापूर्वक सोचते हैं कि आधुनिक परिस्थितियों में यदि हम निरन्तर और यहाँ तक कि विदेशी पूँजी की सहायता से भी बड़े उद्योग लगाये बिना और अपने पूरे सामाजिक-आर्थिक संरचना को उन्नत देशों के साँचे में नये सिरे से ढाले बिना जीवित नहीं रह सकते। औद्योगीकरण की तरंगें तीव्र वेग से अग्रसर हो रही हैं। लोग इसे रोकने की मन:स्थिति में नहीं हैं और इसके बिना रह पाना भी सम्भव नहीं है।

हम लोग एक असमंजस की स्थिति में हैं। ऐसा लगता है कि हम अपने अस्तित्व के लिए भी औद्योगीकरण से नाता जोड़े बिना रह नहीं सकते। और न ही हम उससे मूलत: विपरीत प्रतीत होनेवाले अपने सांस्कृतिक आदर्शों के बिना ही रह सकते हैं। क्योंकि औद्योगीकरण निश्चित रूप से देश में तथा उसके बाहर स्पर्धा तथा संघर्ष उत्पन्न करेगा। आधुनिक इतिहास पूँजी तथा श्रम के बीच निरन्तर चलनेवाले संघर्ष की, संगीन की नोंक पर कमजोर वर्गों के अनैतिक शोषण की, औद्योगिक लूट के लिए उन्नत देशों के बीच होनेवाले खूनी संघर्ष की; अंशधारकों के लोभ, अकर्मण्यता, विलासिता तथा निर्दयता की और निर्धन श्रमिकों के अपराधी वर्ग या मानवीय यंत्रों में अध:पतित हो जाने की एक करुण कहानी है। और ये ही औद्योगीकरण के मुद्दे हैं। औद्योगीकरण मानवता को रोटी देता है, परन्तु उसे शान्ति नहीं प्रदान करता। ऐसी परिस्थितियों में हम किस प्रकार सांस्कृतिक आदर्शों का संरक्षण करें और इसके साथ ही इस विनाशकारी औद्योगीकरण के लिए भी जगह बनाएँ?

नि:सन्देह यह एक गम्भीर समस्या है और इसने काफी वाद-विवाद को भी जन्म दिया है। विचारकों का एक वर्ग कहता है कि हमें अपने सांस्कृतिक आदर्श पूरी तौर से त्यागकर जोर-शोर के साथ औद्योगीकरण के पीछे लग जाना चाहिए, क्योंकि उनके

मतानुसार, वर्तमान परिस्थितियों में उसके बिना हम (मजबूर होकर) आर्थिक दृष्टि से अपने अस्तित्व के लिए अनुपयुक्त हो जायेंगे । जबकि विचारकों का एक दूसरा वर्ग कहता है कि हमें औद्योगीकरण को मानवीय सभ्यता के अभिशाप के रूप में सरसरी तौर पर नकारकर अपने सांस्कृतिक आदर्शों को पकड़े रखना चाहिए और अपने प्राचीन सामाजिक-आर्थिक संरचना को यथावत या किंचित परिवर्तन के साथ पुनर्जीवित कर लेना चाहिए । दो परस्पर-विरोधी दलों द्वारा सुझाया गया यह औद्योगीकरण तथा अपने सांस्कृतिक आदर्श – इन दोनों में से किसी एक को पूर्णत: त्याग देने का विचार हमारी समस्या का समाधान नहीं कर सकता। दोनों परस्पर-विरोधी भावों में से किसी एक को त्याग देने का सहज मार्ग नहीं, बल्कि दोनों का एक उच्चतर सामंजस्य ही इस समस्या का एक उचित समाधान प्रतीत होता है।

हमें पूरा विश्वास है कि स्वामी विवेकानन्द ने निम्नलिखित शब्दों में ऐसी ही एक युक्तिपूर्ण कार्यप्रणाली सुझायी है – "हमारे पूर्वजों तथा अन्य देशों ने भी जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है, यह सर्वसाधारण को जानने दो । विशेषकर उन्हें देखने दो कि और लोग इस समय क्या कर रहे हैं और तब उन्हें अपना निर्णय करने दो । रासायनिक द्रव्य इकट्ठे कर दो और प्रकृति के नियमानुसार वे कोई विशिष्ट आकार धारण कर लेंगे ।"

औद्योगीकरण बनाम सभ्यता एक विश्वव्यापी समस्या बन गयी है । यूरोप में वृहत श्रमिक आन्दोलन ऐसे नयी संरचना बनाने का प्रयास कर रहे हैं, जो देश में या बाहर किसी को हानि पहुँचाये बिना ही राष्ट्र को समृद्धिशाली बना सके । यह देखना अभी भी बाकी है कि इनका क्या परिणाम निकलता है ।

हम लोगों को भी अपने निजी ढंग से, केवल कागज पर नहीं बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी इस समस्या के समाधान का प्रयास करना होगा । उपरोक्त आधुनिक सामाजिक-आर्थिक विध्वंसक प्रभावों की दया पर असहाय पड़े समाज के ऊपर हमें कोई कागजी कार्यक्रम थोपने का अधिकार नहीं है । न हम ग्रामीण बाजार पर नियंत्रण कर सकते हैं और न हम देशी वस्तुओं के साथ होनेवाली स्पर्धा को ही मिटा सकते हैं । न हम लोगों की अभिरुचियों को दिशा दे सकते हैं और न ही हम उन्हें विभिन्न जातियों की व्यावसायिक लीक से चिपके रहने को बाध्य कर सकते हैं । एक ओर तो हमारे अपने सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति श्रद्धा का अभाव और दूसरी ओर प्रबल आर्थिक दबाव ने समाज में एक अव्यवस्थित गति उत्पन्न कर दी है । अब इस गति को रोकने में भला कौन समर्थ है? केवल जनता ही यह कर सकती है और करेगी भी; परन्तु तभी, जब उन्हें इसकी आवश्यकता का बोध कराया जायगा । एकमात्र जनता को ही इस बात का अधिकार है कि वह इस देश का भविष्य निर्धारित करे । उसे भलीभाँति सज्जित करने के बाद वस्तुओं की तुलना, भेद देखना, परित्याग, स्वीकार, परिवर्तन तथा समायोजन, रूपान्तरण, अंगीकरण और अन्ततः इस सामाजिक-आर्थिक जटिल समस्या का हल ढूँढ़ निकालने का मौका देना होगा ।

अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
चेन्नई - ६०० ००४

श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

प्रिय मित्रो,

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई. में इस मठ की स्थापना हुई। यह अपने बहुआयामी सेवाओं के सौ वर्ष पूरे कर चुका है। अनेक वर्षों से भक्तों तथा अनुरागियों की हार्दिक इच्छा थी कि मठ के परिसर में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर का निर्माण हो।

श्रीरामकृष्ण समन्वय तथा सार्वभौमिकता की प्रतिमूर्ति थे और उनका सन्देश वर्तमान युग की आशाओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करता है, अतः उनका मन्दिर भी सार्वभौमिक भावों से युक्त होगा और इसमें उनकी पूरे आकार की संगमरमर की मूर्ति लगायी जायेगी।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बननेवाले इस मन्दिर में १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। इस मन्दिर पर लगभग साढ़े छह करोड़ अनुमानित लागत आयेगी।

रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई. को इस मन्दिर की आधारशिला रखी। मन्दिर का निर्माण सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है और नयी शताब्दी के आरम्भ में इसका उद्घाटन होने की सम्भावना है।

इस तरह के एक विशाल तथा पुनीत कार्य को सभी की शुभेच्छा तथा सहयोग के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में सहभागी होने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। इस मद में दिये जानेवाले सभी दान आयकर से मुक्त हैं। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट 'Ramakrishna Math, Chennai' के नाम से बनवाकर भेजें। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत तथा सूचित किया जायेगा। हम आपके उत्तर की प्रतीक्षा करेंगे।

प्रभु की सेवा में
स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

For Details Contact : Sri Ramakrishna Math, Mylapore, Chennai-4
Phone : (91) (44) 494-1231 & 494-1959, Fax · 493-4589

इसलिए वर्तमान में हमारी जनता को इस युगान्तरकारी प्रयोग के लिए लैस करने मात्र की आवश्यकता है । शिक्षाशास्त्री का कार्य है कि वह आध्यात्मिक विचारों तथा आदर्शों के प्रसारण से जनता में सांस्कृतिक आत्मचेतना ला दे और साथ ही उनके सामने आज तक आविष्कृत आर्थिक कल्याण के सभी उपाय तथा साधनों के द्वार उनके लिए खोलने के बाद उन्हें स्व-समायोजन की स्वाभाविक प्रक्रिया के हाथ छोड़ दे । इस विकास में सहायक आध्यात्मिक उन्नति तथा हर प्रकार के उदात्त गुणों के विकास को एक बार पुनः हमारे जीवन का एक महत्वपूर्ण घटक बनाना होगा और इसके साथ ही हमें आधुनिक विज्ञान के रहस्यों का भी बोध कराना होगा ।

हमारा देश मुख्यतः कृषि पर आधारित है, अतः शिक्षा के अंग के रूप में हर किसी को विज्ञान के कृषि-सुधार में योगदानों से अवगत कराया जाय । हमारे दस्तकारों को तत्काल उन्नयन की जरूरत है, ताकि वे और भी सस्ती तथा आकर्षक वस्तुओं का उत्पादन करके हमारी बदली हुई अभिरुचियों को सन्तुष्ट कर सकें । इसके लिए उन्हें हाथ से चलनेवाली तथा लघु शक्ति की मशीनों के द्वारा इस बात का विस्तृत ज्ञान कराया जाय कि विज्ञान ने गृह-उद्योगों के सुधार के क्षेत्र में क्या किया है । विज्ञान हमारी आम जनता को स्वास्थ्य तथा सफाई के आधुनिक सिद्धान्तों से परिचय कराये, ताकि वे बीमारियों से सफलतापूर्वक निपट सकें । उन्हें यह भी जानना होगा कि किस प्रकार अन्य देशों में सहकारिता संस्थानों ने चमत्कार उत्पन्न किये हैं और किस प्रकार उन्होंने इस देश में भी कार्य करना आरम्भ कर दिया है ।

हमारी जनता को ये बातें तत्काल ज्ञात होनी चाहिए और इसके साथ ही उन्हें हमारी गौरवशाली संस्कृति के उदात्त भावों तथा आदर्शों के विषय में जानकारी प्राप्त कराना, उनके प्रति श्रद्धा-भाव रखना तथा उनका अभ्यास करना भी सिखाना होगा । विभिन्न स्वभावों तथा आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों के अनुरूप धर्म के सच्चे भावों को लेकर उन्हें एक बार फिर भारतीय जीवन का एक सजीव विषय बनाना होगा । शिक्षा-शास्त्री के सामने यही वह दुहरा कार्य है, यही उस महान प्रयोग का साधन है, जिससे कि हमारे देश के लिए उपयुक्त एक नये सामाजिक-आर्थिक ढाँचे का उदय होगा ।

आर्थिक तथा सामाजिक शिक्षा के लिए मस्तिष्क, हाथ तथा हृदय के एक सुनियोजित प्रशिक्षण की नितान्त आवश्यकता है और शिक्षा की किसी भी स्वस्थ प्रणाली में व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा चरित्र-निर्माण का एक महत्वपूर्ण स्थान होना अनिवार्य है ।

□ (क्रमशः) □

अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
चेन्नई – ६०० ००४

श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

प्रिय मित्रो,

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई. में इस मठ की स्थापना हुई। यह अपने बहुआयामी सेवाओं के सौ वर्ष पूरे कर चुका है। अनेक वर्षों से भक्तों तथा अनुरागियों की हार्दिक इच्छा थी कि मठ के परिसर में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर का निर्माण हो।

श्रीरामकृष्ण समन्वय तथा सार्वभौमिकता की प्रतिमूर्ति थे और उनका सन्देश वर्तमान युग की आशाओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करता है, अतः उनका मन्दिर भी सार्वभौमिक भावों से युक्त होगा और इसमें उनकी पूरे आकार की संगमरमर की मूर्ति लगायी जायेगी।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बननेवाले इस मन्दिर में १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। इस मन्दिर पर लगभग साढ़े छह करोड़ अनुमानित लागत आयेगी।

रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई. को इस मन्दिर की आधारशिला रखी। मन्दिर का निर्माण सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है और नयी शताब्दी के आरम्भ में इसका उद्घाटन होने की सम्भावना है।

इस तरह के एक विशाल तथा पुनीत कार्य को सभी की शुभेच्छा तथा सहयोग के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में सहभागी होने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। इस मद में दिये जानेवाले सभी दान आयकर से मुक्त हैं। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट 'Ramakrishna Math, Chennai' के नाम से बनवाकर भेजें। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत तथा सूचित किया जायेगा। हम आपके उत्तर की प्रतीक्षा करेंगे।

प्रभु की सेवा मे
स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

For Details Contact : Sri Ramakrishna Math, Mylapore, Chennai-4
Phone : (91) (44) 494-1231 & 494-1959, Fax : 493-4589

मृत्यु क्या है ?

भैरवदत्त उपाध्याय

जीवन क्या है? यदि यह जान लिया जाए, तो मृत्यु का स्वरूप पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है । जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश का विपर्यय है, उसी प्रकार मृत्यु भी जीवन का वैपरीत्य है । जीव मात्र में जो स्पन्दन है, गति है, ऊर्जा का प्रवाह है, आकर्षण है, सोमाग्निमय यज्ञ है, जिजीविषा है, संकल्प है, कर्तृत्व और भोक्तृत्व है, वही जीवन पद से परिभाषेय है । अगति, स्पन्दनहीनता, पूर्ण विराम और पूर्ण विश्राम की अपर संज्ञा मृत्यु है । यह महालय स्थिति है । पंच-तत्वों के संघटन का विघटन है । स्थूल भूतों का सूक्ष्म तन्मात्राओं में विलय हैं । प्राणतत्व का निष्क्रमण तथा आत्मा का शरीर नगर से महाप्रयाण है । स्थूल का सूक्ष्म में परावर्तन, आत्मा का नवीन परिधान धारण, जीव का चिर-निद्रा में शयन, महास्वप्न का अखण्ड दर्शन और नित्य गोलोक की शरण है । संक्षेप में मृत्यु कोशिकाओं सहित शरीर संस्थान का विसर्जन है । चयापचयी क्रियाओं का समापन और मस्तिष्क संस्थान की क्रिया-शून्यता है । मृत्यु क्या है? उसका कोई प्रकार नहीं है और न कोई विशेषण । फिर सामयिक, असामयिक, स्वाभाविक, अस्वाभाविक, सुखद, दु:खद, आकस्मिक आदि विशेषणों को उसके साथ जोड़ना मनुष्य की प्रकृति है। इन विशेषणों के अतिरिक्त एक अन्य विशेषण लगाकर 'जीवन-मृत्यु' शब्द भी व्यवहार में सुनने को मिलता है । जिसका आशय उस मृत्यु से है, जिसकी अनुभूति मनुष्य स्वयं अपने जीवन में ही कर लेता है अर्थात मृत्युतुल्य दु:ख से गुजरना ऐसी ही घटना है । जिसे जीवन-मृत्यु की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। सम्मानित व्यक्ति के लिए अपकीर्ति मृत्युतुल्य दु:ख है – "संभावित कहँ अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू ।" (मानस, २/९५/७) एक कलाकार की मृत्यु उसके जीवन में तब होती है, जब वह कला की उपासना छोड़ देता है या कला की मूल चेतना को ही विस्मृत कर बैठता है । इसी तरह साधक जब अपनी साधना को परित्यक्त कर साध्य से विभ्रष्ट होता है, तब उसकी भी जीवन-मृत्यु ही होती है ।

प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता फ्रायड ने जीवन के साथ मृत्यु को जोड़कर इरोज (Eros) और थानतोस (Thantos) – नामक दो मूल प्रवृत्तियों का प्रतिपादन कर जीवन के ध्रुवों की सत्यता को स्वीकार किया था । उसके अनुसार मृत्यु की मूल-प्रवृत्ति (Death Instinct) मरने की इच्छा के रूप में नहीं, अपितु मारने की इच्छा के रूप में व्यक्त होती है । यह विध्वंसात्मक तथा आक्रामक प्रवृत्ति है । जब बाहर किसी प्रकार का संत्रास मिलता है तब वह स्वविनाश की ओर अग्रसर होती है और व्यक्ति आत्महत्या करता है, किन्तु भारतीय मनोविज्ञान इससे पूर्णत: असहमत है । उसके अनुसार मृत्यु का दर्शन न तो निराशित तथा कुण्ठित व्यक्ति की आत्महत्या का दर्शन है और न हिंसा पर

आधारित राक्षसी जीवन-दर्शन से ही सम्बद्ध है । मनोवैज्ञानिक युग ने एकमात्र जिजीविषा को ही मूल प्रवृत्ति माना है । मरणेच्छा उसी का एक रूप है ।

मृत्यु शाश्वत चक्र है । जो जन्मा है, वह मृत्यु का ग्रास अवश्यमेव बनेगा – **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः** । मानव ने मृत्यु महती विभीषिका तथा महान दु:ख के रूप में देखने की अधिक चेष्टा की है । महात्मा बुद्ध ने कहा था – **जननं दुःखम्, मरणं दुःखम्** – अर्थात जन्म लेना दु:ख है और मरना भी दु:ख है । जन्म-मरण के चक्र का भंजक निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य और मुक्ति है । अतएव मोक्ष को त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम में सम्मिलित किया गया है । जीवन से पलायन कर लोग मोक्ष की कामना से अरण्य में जाने लगे । जब से दु:खवाद जीवन पर छाया, तब से मृत्यु का दर्शन भी दु:खवादी हो गया । किन्तु आर्य ऋषियों ने मृत्यु की व्याख्या आनन्दवादी दर्शन की पृष्ठभूमि पर की । उनकी दृष्टि में मृत्यु का अर्थ आनन्द है । वह ऐसा महोत्सव या महापर्व है, जो आनन्द से ओतप्रोत है । इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मृत्यु का पाठ पढ़ाया । मृत्यु की शिक्षा दी । मरने-मारने के लिये युद्धभूमि में उतारा । मृत्यु से भयभीत अर्जुन से कहा – "हे अर्जुन! यदि तू युद्ध में मर जाता है तो सीधा स्वर्ग को जायेगा और जीत जाता है, तो पृथ्वी को भोगेगा । इसलिए तू युद्ध का निश्चय करके युद्ध के मैदान में कूद पड़ ।" (गीता, २/३७) । **वीरभोग्या वसुन्धरा** – चूँकि पृथ्वी वीरभोग्या है, अत: वीर स्वयं ही मृत्यु का वरण करता है । मातृभूमि की रक्षा और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हेतु वह अपने प्राणों की परवाह नहीं करता । बन्दा वैरागी, भगतसिंह और सुभाष जैसे बलिदानी वीरों के दृष्टान्त से देश का इतिहास भरा है । देश की आजादी इन्हीं वीरों के द्वारा हँसते हँसते मृत्यु को स्वीकार करने का फल है । देश की सीमाओं की रक्षा और प्रभुसत्ता का सम्मान मृत्यु का उपहास करनेवाले इन वीरों के ही ऊपर निर्भर है । वीर व्यक्ति सिंह की भाँति जीता-मरता है । कुत्ते की भाँति न तो जीना और न मरना ही उसे पसन्द है।

ऐसा कौन है जो वीर बालक नचिकेता को नहीं जानता? उसने सशरीर मृत्यु के आचार्य यम का आतिथ्य स्वीकार कर मृत्यु के रहस्य की जिज्ञासा आचार्यश्री के चरणों में रखी थी और यम ने बालक के हठ के आगे स्नेहाभिभूत होकर मृत्यु के अतिगुह्य रहस्य की ग्रन्थियों का उन्मोचन किया था ।

जीवन यदि धन है, तो मृत्यु उसका प्रहरी है । यदि वह प्रसाद है, तो मृत्यु उसकी नींव का सुदृढ़ पत्थर है । जिसे मृत्यु का अहसास है, जो स्वयं को काल के गाल में बैठा देखता है और जिस संवेदनशील व्यक्ति को काल द्वारा बालों को पकड़कर दबोचे जाने की पीड़ा है, वही सदाचरण के पथ पर अग्रसर होता है । जीवन यदि कला है, तो मृत्यु उसकी आधारभूमि है । जीने का हक उसी को है, जिसने मृत्यु से पूर्व ही उसकी अनुभूति कर ली है । जो जन्म से पहले ही मर चुका है, वही जीवनानन्द की वास्तविक सम्प्राप्ति के योग्य है । वही यथार्थ जीवन जी रहा है — "मृत्यु को जिसने वरा है, उसी ने जीवन जीया है ।"

श्रीरामकृष्ण का हिन्दी ज्ञान

सोमनाथ चटोपाध्याय

श्रीरामकृष्ण भारत के इतिहास में एक अद्भुत युगपुरुष थे। उनका प्रत्येक कार्य अभूतपूर्व कुशलता एवं विशिष्टता से परिपूर्ण था। उनके चरित्र का प्रत्येक पहलू अपनी मौलिकता तथा स्निग्धता के कारण अनायास ही दृष्टि को आकर्षित करता है। हुगली जिले के एक ग्राम्य परिवेश में पले-बढ़े, विधिवत शिक्षा से रहित दक्षिणेश्वर काली मन्दिर के ये भोले-भाले पुरोहित निःसन्देह वर्तमान मनोवैज्ञानिकों के सामने एक महान चुनौती के रूप में विद्यमान हैं। बंगाल की भाषा तथा संस्कृति और बंगाल के ही परिवेश में विकसित हुआ यह व्यक्तित्व मात्र बंगाली बनकर नहीं रहा, अपितु अखिल भारतीय और यहाँ तक कि सम्पूर्ण विश्व के समक्ष अपना सार्वभौमिक व्यक्तित्व प्रकट करते हैं।

श्रीरामकृष्ण पिछली शताब्दी की बंगाली संस्कृति एवं परम्परा की सर्वश्रेष्ठ उपज हैं। आधुनिक दृष्टिकोण से कहा जाय तो वे लगभग अशिक्षित ही थे और प्रायः अपनी ग्रामीण बोलचाल की बँगला भाषा का ही उपयोग करते थे, परन्तु इसके साथ ही रामकृष्ण-व्यक्तित्व के गठन में हिन्दी तथा उसके साहित्य ने भी यथेष्ट योगदान किया था और हिन्दी के लिए यह एक गौरव का विषय है।

श्रीरामकृष्ण हिन्दी भी अच्छी बोल लेते थे। ब्राह्मसमाज के सम्पर्क से अनेक शिक्षित लोगों के सम्पर्क में आने के कारण उनकी भाषा में यत्र-तत्र कुछ आंग्ल शब्द भी आ जाते थे। इसके अलावा उन्हें संस्कृत का भी थोड़ा ज्ञान था। उन्होंने स्वयं ही बताया था कि वे संस्कृत समझ सकते हैं, परन्तु बोल नहीं सकते। इस दृष्टि से, निस्सन्देह एकमात्र हिन्दी को ही यह गौरव प्राप्त है कि श्रीरामकृष्ण अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त केवल हिन्दी में ही सहज भाव से बोल पाते थे।

प्रश्न उठता है कि श्रीरामकृष्ण को हिन्दी का ज्ञान कहाँ और कैसे प्राप्त हुआ? इसके समाधान के लिए हमें रामकृष्ण-चरित के उस काल पर दृष्टिपात करना होगा, जब भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के अनेक साधु-संन्यासी दक्षिणेश्वर की कालीबाड़ी में ठहरा करते थे। गंगासागर के निकट होने पर तथा जगन्नाथपुरी के मार्ग में अवस्थित रासमणि के काली मन्दिर में भिक्षा एवं शौच (श्रीरामकृष्ण की भाषा में 'दिशा-जंगल') आदि की सुविधा होने की वजह से वहाँ साधकों का ताँता लगा रहता था। श्रीरामकृष्ण की साधना-काल में उनके मन में जब जिस भाव की प्रधानता होती, तब उस सम्प्रदाय के साधु-संन्यासियों का वहाँ जमघट लग जाता था। जब वे रामोपसना में तल्लीन थे, तब रामोपासक साधुओं का वहाँ आना-जाना लगा रहा, जिनमें जटाधारी नामक साधु का विशेष उल्लेख मिलता है। सम्भव है श्रीरामकृष्ण ने इन्हीं साधुओं के सम्पर्क में आकर हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया हो।

इतना ही नहीं उन्हें कबीर, सूर, तुलसी एवं उनका रामचरितमानस तथा हिन्दी में उपलब्ध वेदान्त ग्रन्थों का भी ज्ञान था। श्रीरामकृष्ण अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए

उपमाओं का प्रयोग किया करते थे। ऐसा मानना तर्कसंगत लगता है कि श्रीरामकृष्ण द्वारा उपयोग में लायी गई कुछ उपमाएँ अपने पूर्ववर्ती सन्त-कवियों की रचनाओं से प्रभावित थीं। परन्तु इससे श्रीरामकृष्ण की महिमा घट नहीं जाती, अपितु एक कथाशिल्पी के रूप में उनकी छवि और भी अधिक प्रोज्ज्वल हो उठती है। उदाहरणार्थ, उनकी एक उपमा देखिए – ईश्वर के साकार-निराकार रूप के प्रसंग में वे कहते हैं, "सच्चिदानन्द मानो एक अनन्त सागर है। ठण्डक के कारण समुद्र का पानी बर्फ बनकर तैरता है। ... वैसे ही भक्ति-हिम के जमने से सच्चिदानन्द सागर में साकार के दर्शन होते हैं। वे भक्त के लिए साकार होते हैं।"[१] इसके साथ गोस्वामीजी की निम्नलिखित चौपाई के साथ तुलना कीजिए –

सगुनहि अगुनहि कछु नही भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥
जो गुनरहित सगुन सो कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहीं जैसे॥

यहाँ द्रष्टव्य है कि तुलसीदास जी ने जिस बात को सूत्ररूप में प्रस्तुत किया है, उसी का स्पष्टीकरण श्रीरामकृष्ण ने किया है। कुछ अन्य उदाहरण देखिए – माया के प्रसंग में उदाहरण देते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा, "सिर्फ ढाई हाथ की दूरी पर श्रीरामचन्द्र हैं, वे साक्षात ईश्वर हैं पर बीच में सीतारूपिणी माया का पर्दा पड़ा हुआ है, इसी कारण लक्ष्मण-रूपी जीव को ईश्वर के दर्शन नहीं होते।"[२]

इसके समकक्ष तुलसीदास की उक्ति देखिए –

उभय बीच सिय सोहति कैसी। जीव ब्रह्म बीच माया जैसी॥

ज्ञान और भक्ति की एकता बताते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा, "शुद्ध ज्ञान और शुद्धा भक्ति एक है।"[३] तुलसीदासजी ने भी लिखा है –

भगतिहि ग्यानहि कछु नहीं भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥

रामचरितमानस से श्रीरामकृष्ण का परिचय असम्भव नहीं है। हिन्दीभाषी क्षेत्रों में इस ग्रन्थ की महत्ता सर्वविदित है। जब रामायत सम्प्रदाय के साधु संन्यासी, दक्षिणेश्वर में आते थे, तब सम्भवतः श्रीरामकृष्ण ने उन लोगों से इसका पाठ सुना हो। बचपन से ही श्रुतिधर एवं स्मृतिधर होने के कारण, सुना हुआ पाठ उन्हें तत्काल कण्ठस्थ हो जाता था। सम्भव है कि 'मानस' की सरलता और हृदयग्राहकता के कारण ही ठाकुर उससे प्रभावित हुए हों।

न केवल 'मानस', अपितु गोस्वामीजी के 'विनय-पत्रिका' से भी एक झलक हमें 'वचनामृत' में मिल जाती है। एक भक्त के यह पूछने पर कि यदि किसी की गर्भधारिणी माँ ही साधक के मार्ग में बाधा खड़ी करे, तो उसे क्या करना चाहिए, श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "जो ऐसी बात कहे, वह माँ नहीं है – वह अविद्या की मूर्ति है। उस माँ की बात अगर न मानी जाय, तो कोई दोष नहीं। वह माँ ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में विघ्न डालती है। ईश्वर के लिए गुरुजनों की बात का उल्लंघन किया जाय, तो उसमें कोई दोष नहीं होता। भरत ने राम के लिए कैकेयी की बात नहीं मानी। गोपियों ने श्रीकृष्ण-दर्शन के लिए पति की मनाई नहीं सुनी। प्रह्लाद ने ईश्वर के लिए बाप की बात पर ध्यान नहीं दिया। बलि ने ईश्वर की प्रीति के

लिए अपने गुरु शुक्राचार्य की बात नहीं सुनी। विभीषण ने राम को पाने के लिए अपने बड़े भाई रावण की बातों पर ध्यान नहीं दिया। परन्तु 'ईश्वर के मार्ग पर न जाना' — इस बात को छोड़ और सब बातें मानो।''[४]

श्रीरामकृष्ण के उपरोक्त उपदेश पर निश्चित रूप से गोस्वामीजी की 'विनय-पत्रिका' (१७४) के निम्नलिखित पद की छाप है —

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥

केवल तुलसीदास जी से ही नहीं बल्कि सूरदास जी से भी श्रीरामकृष्ण को लगाव था। वचनामृत में एक प्रसंग में उनका उल्लेख भी हुआ है — जप-ध्यान द्वारा ईश्वर की प्राप्ति की चेष्टा को निष्फल बताकर उन्होंने जहाज पर बैठे पंछी की उपमा दी है।[५]

ध्यान से देखा जाए तो सूर, तुलसी आदि का अप्रत्यक्ष प्रभाव श्रीरामकृष्ण की उपमाओं में है। परन्तु इसका अर्थ यह कतई न लगाया जाए कि श्रीरामकृष्ण की मौलिक प्रतिभा इससे कम हो जाती है। सत्य तो यह है कि इससे वे प्राचीन भारत से और भी जुड़ जाते हैं और प्राचीन तथा अर्वाचीन के मध्य सेतु का काम करते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीरामकृष्ण की जड़ें सनातन भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में फैली हुई हैं। साथ ही उनके विस्तार तथा समयानुसार नवीन व्याख्या से वे इन उपमाओं को नया सौंदर्य प्रदान करते हैं। तुलसी और श्रीरामकृष्ण एक ही भारतीय संस्कृति की उपज हैं और दोनों के कथनों का समर्थन वैदिक शास्त्र करता है। इस प्रसंग में स्वामी विवेकानन्द का कथन स्वतः स्मरण हो आता है कि श्रीरामकृष्ण स्वयं वेदमूर्ति थे, उन्हीं के माध्यम से हम शास्त्रों के मर्मार्थों को समझ सकते हैं। तुलसीदास, सूरदास आदि से वैचारिक साम्यता का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि उस उच्चतम भूमि से प्रसारित होनेवाली प्रत्येक वाणी विभिन्न मुखों से निःसृत होने पर भी समान रहती है। श्रीरामकृष्ण ने इसे अपनी अत्यन्त सुन्दर भाषा में यूँ कहा है, ''सभी सियारों की एक-सी बोली है।''[६]

श्रीरामकृष्ण के पास कलकत्ते से मारवाड़ी भक्त आया करते थे। सम्भवतः उनके साथ भी वे कुछ हद तक हिन्दी में ही वार्तालाप करते थे।[७]

पंचवटी में आए एक नानकपंथी साधु से भी उन्होंने हिन्दी में ही बात की थी।[८]

इसके अतिरिक्त उनके सिख भक्त भी सम्भवतः उनसे हिन्दी में ही वार्तालाप करते थे। श्रीरामकृष्ण के पास हिन्दी ने अपना सबसे बड़ा धरोहर लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) के रूप में छोड़ा जिन्हें स्वामीजी 'श्रीरामकृष्ण का चमत्कार' कहा करते थे। निस्सन्देह लाटू को समझाने के लिए उन्हें कई बार हिन्दी शब्द का सहारा लेना पड़ा होगा।

अप्रत्यक्ष प्रभावों को छोड़कर अब हम श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रयुक्त किए गए प्रत्यक्षतः हिन्दी पदों का उल्लेख करेंगे। श्रीरामकृष्ण समय-समय पर शिष्यों को समझाने के लिए कुछ

हिन्दी पदों का प्रयोग करते थे ।

वही राम दशरथ का बेटा, वही राम घट-घट में लेटा ।
वही राम जगत् पसेरा, वही सबसे न्यारा ।।[९]
सत्यवचन अधीनता परधन उदास ।
इससे हरि न मिले तो जामीन तुलसीदास ।।
सत्यवचन अधीनता पर स्त्री मातृसमान ।
इससे हरि न मिले तो तुलसी झूठजबान ।।[१०]
हरि से लागि रहो रे भाई । तेरी बनत बनत बन जाई ।।[११] **- मीरा**
बिना प्रेम से न मिले नन्दलाला ।।- मीरा
निर्गुण तो पिता हमारा, सगुण महतारी ।
काकों निन्दों काकों बन्दों दोनों पल्ले भारी ।।[१२]
ऐसी भक्ति करो घट भीतर छोड़ कपट-चतुराई ।
सेवा, बन्दी और अधीनता, तो सहज मिले रघुराई ।।[१३]

वचनामृत ऐसे कितने ही उदाहरणों से पटा पड़ा है । कबीर के प्रसंग में वे कहते हैं कि उन्हें साकार लीला पर आस्था नहीं थी । वह कहते थे, 'गोपियाँ ताली बजाकर कृष्ण को बन्दर की नाई नचाती थीं ।' नरेन्द्रनाथ को अद्वैत वेदान्त समझाने के लिए वे एक गाने को उद्धृत किया करते थे, यह गाना उन्हें अत्यन्त प्रिय था तथा नरेन्द्रनाथ से बार-बार गवाते

"तुझसे हमने दिल को लगाया, जो कुछ है सो तू ही है ।।"[१४]

लीलाप्रसंग में स्वामी सारदानन्द लिखते हैं कि श्रीरामकृष्ण समय-समय पर हिन्दी के कुछ भक्तिपूर्ण पद गाते तथा भक्तों को भी उत्साहित करते । स्वामी सारदानन्द ने कुछ की सूची प्रस्तुत की है –

सीतापति रामचन्द्र रघुपति रघुराई ।
भजले अयोध्यानाथ दूसरा न कोई ।।[१५]

इस पद के सम्बन्ध में एक रोचक घटना का उल्लेख बँगला के 'श्रीरामकृष्ण पुँथी' ग्रन्थ में मिलता है । जब वे अस्वस्थता की हालत में काशीपुर उद्यानभवन के ऊपरी कमरे में लेटे हुए थे, तब नीचे कुछ भक्त उपरोक्त भजन गा रहे थे । कुछ देर सुनने के बाद उन्होंने नीचे सेवक से कहला भेजा, "जो पद गा रहे हो, उसकी और भी पंक्तियाँ हैं" और वे पंक्तियाँ भी बता दीं ।

राम को न चिन्हा, राम को जो न भजा क्यों जिया जग में ।[१६]

जिस समय श्रीरामकृष्ण वेदान्त विचार में लीन थे, उस समय अद्वैतवादी सन्तों का ताँता लगा रहता था । श्रीरामकृष्ण के कमरे में सदैव 'अस्ति-भाति-प्रिय' (सच्चिदानन्द) की चर्चा लगी रहती थी । इन पश्चिमी सन्तों की चर्चा निस्सन्देह हिन्दी में होती और श्रीरामकृष्ण इन वितर्कों का समाधान करते थे । इससे स्पष्ट है कि उन्हें हिन्दी का अच्छा-खासा ज्ञान था ।[१७]

वे आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती से मिले और वार्तालाप हिन्दी में ही हुआ ।[१८]

इसका अकाट्य प्रमाण मास्टर महाशय के कथन से मिलता है, ''दयानन्द सरस्वती से मिले थे।... उन्होंने कहा था कि अपने बारे में अभी भी थोड़ा अहंकार बाकी है।''

हास्य तथा कौतुक में भी वे हिन्दी शब्दों का प्रयोग करने से नहीं चूकते थे। शरणागति और अहंनाश के प्रश्न पर उनकी कहानी इस प्रकार है – ''अहंकार के रहते मुक्ति नहीं होती। जब तक अहंकार है तब तक अज्ञान है। गौएँ 'हम्बा-हम्बा' (हम-हम) करती हैं और बकरे 'में-में' (मैं-मैं)। इसलिए उनको इतना कष्ट भोगना पड़ता है। दुःख की पराकाष्ठा हो जाती है। हिन्दी में अपने को 'मैं' कहते हैं और 'हम' भी कहते हैं। 'मैं मैं' करने के कारण कितने कष्ट भोगने पड़ते हैं। अन्त में आँत से धुनहे की ताँत बनाई जाती हैं। धुनहे के हाथ में जब वह पड़ती है, तब 'तूहूँ तूहूँ' कहती है। 'तू' कहने के बाद निस्तार होता है, फिर दुःख नहीं उठाना पड़ता।[१९]

इस प्रसंग में हिन्दी के 'मैं', 'तू', 'हम' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। कप्तान विश्वनाथ उपाध्याय उनके एक आचारी गृही भक्त थे। उन पर उनकी पत्नी कितनी हावी थी, यह बताने के लिए उन्होंने एक मनोरम कौतुक सुनाया। जब कप्तान से गाड़ी का किराया माँगा गया, तो उन्होंने किराया नहीं दिया। माँगने पर, श्रीरामकृष्ण के शब्दों में, ''कप्तान ने अपने परिवार (पत्नी) से पैसे माँगे। उसकी पत्नी भी, क्या हुआ? क्या हुआ? (हिन्दी प्रयोग) की रट लगाकर चिल्लाने लगी। तब कप्तान ने हारकर कहा, ''राम वगैरह दे देंगे।''[२०]

विनोदपूर्ण कहानियों में से एक कहानी ऐसी है कि एक साधु ने ईश्वर से प्रार्थना की कि उसे एक घोड़ा दिलवा दिया जाए। इतने में कुछ सैनिक वहाँ से गुजरे और उनके साथ का एक टट्टू घोड़ा उस साधु पर लाद दिया। मजबूरी में उसे वहन करते हुए उसने ईश्वर से गिला किया, 'उल्टा समझलीं राम'।

दूसरी भी एक कहानी है जिसमें एक कौपीन की रक्षा हेतु साधु को गृहस्थी का बोझ उठाना पड़ा। इसे 'कौपीन के वास्ते' (हिन्दी प्रयोग) कहा गया। इससे वचनामृत के पाठक भलीभाँति परिचित होंगे। हास्य-व्यंग्य के क्रम में श्रीरामकृष्ण ने कुछ विनोदपूर्ण पदों का भी प्रयोग किया है। जैसे –

बाप का बेटा सिपाही का घोड़ा।
कुछ न रहे तो भी थोड़ा थोड़ा॥

सम्भवतः तोतापुरी के माध्यम से श्रीरामकृष्ण का हिन्दी के साथ सर्वाधिक निकट का नाता जुड़ा था, क्योंकि तोतापुरीजी हरियाना के निवासी थे और शुद्ध हिन्दी में ही वार्तालाप करते थे।[२१] परन्तु ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि श्रीरामकृष्ण भी उनसे हिन्दी में ही वार्तालाप करते रहे हों। परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि वे हिन्दी समझ सकने में पूर्णतया सक्षम थे क्योंकि अनेक वर्षों के बाद भी तोतापुरी की भाषा का हूबहू उल्लेख अपने शिष्यों से किया था। साधु के लक्षणों के बारे अपने शिष्यों से उन्होंने कहा था, ''पंछी और दरवेश संचय नहीं करेंगे।'' (पंछी तथा दरवेश हिन्दी शब्द हैं।)

श्रीरामकृष्ण द्वारा हिन्दी भाषा के प्रयोग का सबसे ठोस प्रमाण वचनामृत ग्रन्थ में

मिलता है। २६ दिसम्बर १८८३ ई. के दिन रामचन्द्र दत्त के काँकुड़गाछी स्थित उद्यान में जब वे दर्शन करने गए, तो वहाँ से चलकर सुरेन्द्रबाबू के बगीचे के पास वास कर रहे एक साधु के साथ 'स्पष्ट एवं ललित' हिन्दी में बातचीत की। कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं –

श्रीरामकृष्ण (साधु के प्रति) – आप किस सम्प्रदाय के हैं? – गिरि या पुरी, कोई उपाधि है क्या?

साधु – लोग मुझे परमहंस कहते हैं ?

श्रीरामकृष्ण – अच्छा, अच्छा ! शिवोऽहं, शिवोऽहं, यह अच्छा है। परन्तु एक बात है। यह सृष्टि, स्थिति और प्रलय सभी कुछ हो रहा है उन्हीं की शक्ति से। ...

ठाकुर के आदेश पर रामचन्द्र दत्त अगले रविवार को उन साधु को लेकर दक्षिणेश्वर पधारे। उस दिन प्रेमपूर्वक साधु को बगल में बिठाकर श्रीरामकृष्ण बातचीत करने लगे। यहाँ फिर हमें हिन्दी में बातचीत सुनने का मौका मिलता है। कुछ अंश उद्धृत हैं –

श्रीरामकृष्ण – यह तुम्हें कैसा जान पड़ता है?

साधु – यह सब स्वप्नवत है।

श्रीरामकृष्ण – परन्तु शब्द का प्रतिपाद्य भी तो एक है। क्यों जी?

साधु – वही वाच्य है और वही वाचक भी है।

यह सुनते सुनते श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गए। ... केदार साधु से कह रहे हैं – "यह देखिए, इसे समाधि कहते हैं।"

थोड़ी देर बाद जब काली-मन्दिर खुला, तो श्रीरामकृष्ण उन्हें साथ लेकर माँ के दर्शन करने चले। साधु के प्रणाम करने के बाद उससे पूछते हैं – "क्यों जी, दर्शन कैसे हुए?"

साधु (भक्ति भाव से) – काली प्रधान हैं।

श्रीरामकृष्ण – काली और ब्रह्म दोनों अभेद हैं। क्यों जी?

साधु – जब तक बहिर्मुख हैं, तब तक काली को मानना पड़ेगा।

इस प्रकार हम पाते हैं कि हिन्दी के साथ श्रीरामकृष्ण का सम्बन्ध कितना गहरा और घनिष्ठ था। क्या श्रीरामकृष्ण ने अपनी दिव्यदृष्टि से देखा था कि आगामी युग हिन्दी का है? सम्भव है इसलिए भी नवीन और प्राचीन भारत का सम्मेलन करते हुए उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी को उचित सम्मान दिया हो। □

सन्दर्भ-सूची

१. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, भाग १, पन्द्रहवाँ सं., पृ. ६२५ ; २. वही, भाग १, पृ. १९१ , ३. वही, १६ अगस्त, १८८३ : ४. वही, भाग ३, षष्ट सं., पृ. ६१-६२ ; ५. वही, भाग २, पृ.१०५ ; ६. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसग, गुरुभाव पर अन्तिम बातें ; ७. वचनामृत, २० अक्टूबर, १८८४ ; ८ वही, भाग १, पृ. १०६ ; ९. वही, भाग १, पृ.२०१ ; १०. वही, भाग १, पृ. ४३८, लीलाप्रसंग, गुरुभाव और नाना साधु-सम्प्रदाय , ११. वचनामृत, भाग २, पृ. ५१५ ; १२. वही, २८ अक्टूबर १८८२ ; १३. लीलाप्रसग, गुरुभाव और नाना साधु सम्प्रदाय; १४. वही. श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ के अलौकिक सम्बन्ध ; १५. वही, गुरुभाव और नाना साधु सम्प्रदाय , १६. वही, गुरुभाव और नाना साधु सम्प्रदाय ; १७. वही, गुरुभाव और नाना साधु सम्प्रदाय ; १८. वचनामृत, भाग १, पृ. ५२४, भाग २. पृ. ४५१ ; १९. वही, भाग १, पृ. २७२ ; २०. वही, २५ जुलाई, १८८४ ; २१. उदाहरणार्थ देखिए - वचनामृत, ६ मई १८८५।

मनोबल में वृद्धि के उपाय

स्वामी सत्यारूपानन्द

समाज में कई बार हमको यह देखने को मिलता है कि अभाव-ग्रस्त तथा साधनहीन व्यक्ति कई महत्वपूर्ण तथा अत्यन्त उपयोगी कार्यों को करने में सफल होकर समाज और राष्ट्र का हित साधन करते हैं तथा स्वयं के जीवन को भी सार्थक और सफल कर लेते हैं।

तो दूसरी ओर धन तथा साधन सम्पन्न व्यक्ति जीवन में कुछ विशेष नहीं कर पाते। जीवन के किसी भी क्षेत्र में वे लोग दक्षता या विशेषता प्राप्त नहीं कर पाते। उनका जीवन अत्यन्त साधारण और सामान्य ही रह जाता है। जीवन में कोई विशेष उपलब्धि नहीं हो पाती। जीवन सार्थक और सफल नहीं हो पाता।

क्या कारण है इस प्रकार के अन्तर का ?

यदि ऐसे व्यक्तियों के चरित्र का अध्ययन करें। उनके चरित्र का विश्लेषण करें तो हम पाएँगे कि उनके जीवन की सफलता और असफलता का कारण मनोबल का कम और अधिक होना है। संकल्प का दुर्बल और दृढ़ होना है।

मानव-जीवन की सफलता और असफलता इसी मनोबल पर निर्भर करती है। जिसका मनोबल जितना प्रबल होगा, जिसका संकल्प जितना दृढ़ होगा, वह व्यक्ति जीवन में उतना ही सफल होगा। जीवन की सफलता और विफलता का रहस्य ही मनोबल का कम या अधिक होना है।

मनोबल एक अर्जित और संचित बल है।

संसार में ऐसा कोई भी स्वस्थ और सामान्य व्यक्ति नहीं है जिसमें कि कुछ-न-कुछ मात्रा में मनोबल न हो। सभी स्वस्थ और सामान्य बालक का जन्म कुछ-न-कुछ मात्रा में मनोबल के साथ ही होता है। उस मनोबल को सुरक्षित रखना, बढ़ाना या घटाना अथवा व्यर्थ ही नष्ट हो जाने देना, व्यक्ति के अपने हाथ में होता है।

प्रत्येक व्यक्ति नियमानुसार यथोचित प्रयत्न करे तो वह निश्चित रूप से अपने मनोबल को इतना बढ़ा सकता है कि उसकी योग्यता और अधिकार के अनुसार वह अपनी रुचि के क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है। उसका जीवन सफल और सार्थक हो सकता है।

यदि हम प्रबल मनोबल युक्त सफल व्यक्तियों के जीवन तथा कार्यों पर दृष्टि डालें तो हमें उनके जीवन की कुछ विशेषताएँ, उनके व्यक्तित्व के कुछ गुण स्पष्ट दीख पड़ेंगे।

प्रथम तो हमें यह दीख पड़ेगा कि उन लोगों ने अपने जीवन के लिए कोई निश्चित कार्यक्षेत्र निर्धारित कर लिया है। ऐसा कार्यक्षेत्र जिसमें उनकी रुचि है तथा जिस ओर उनका स्वाभाविक रुझान है।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि उनकी रुचि का क्षेत्र उनकी जीविका का साधन नहीं भी हो सकता है। जीविका के लिए वह व्यक्ति कुछ और ही कार्य करता हो तथा यह सम्भव है कि उसमें उसकी उतनी रुचि न भी हो।

फिर जीविका जीवन की सफलता का माप-दण्ड भी नहीं है। जीवन में तृप्ति और सफलता तो उसी कार्य में मिल सकती है जिसमें हमारी स्वाभाविक रुचि हो।

दूसरी बात, हम प्रत्येक ऐसे व्यक्ति में जिसका मनोबल प्रबल तथा संकल्प दृढ़ है, ये तीन गुण अवश्य पाएँगे।

(१) धैर्य

(२) अध्यवसाय और

(३) अभ्यास

इन तीन गुणों के आचरण से कोई भी व्यक्ति अपना मनोबल पर्याप्त मात्रा में बढ़ा सकता है। इतना बढ़ा सकता है जिससे कि वह अपने मनोवांछित क्षेत्र में सफल हो सके।

अध्यवसाय और अभ्यास का आधार है धैर्य। ऐसा हम कह सकते हैं कि धैर्य वह नींव है जिस पर अध्यवसाय और अभ्यास का भवन खड़ा होता है।

अत: सर्वप्रथम जीवन में धैर्य का ही अभ्यास करना आवश्यक है। अधीरता हमारे जीवन में कुटेवों के कारण आ जाती है। प्राय: लोग जल्दबाजी और चंचलता के शिकार हो जाते हैं, किसी भी कार्य के लिए किसी भी बात के लिए प्रतीक्षा नहीं करना चाहते। जो हम चाहते हैं वह तुरन्त हो जाए, ऐसा सोचने लगते हैं। किन्तु व्यावहारिक जगत् में यह सम्भव नहीं है कि हम जो चाहें जैसा चाहें वह तुरन्त हो जाए। बहुत सी बातों में हमें विवश होकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

किन्तु इसी विवशता को यदि हम शान्त-चित्त से स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लें तो यही धैर्य बन जाता है तथा हमारे चरित्र में स्थिरता लाता है।

धैर्य के पश्चात् मनोबल बढ़ाने के लिए दूसरा आवश्यक गुण है अभ्यास। आज जीवन में हम जिन कार्यों को करने में निपुण हैं, दक्ष हैं, वे सभी निरन्तर अभ्यास के ही परिणाम हैं। जाने या अनजाने हमने उन कार्यों का दीर्घकाल तक अभ्यास किया है। इसीलिए हम आज उन कार्यों को सरलता एवं दक्षतापूर्वक कर पा रहे हैं।

अभ्यास के सम्बन्ध में एक विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। अभ्यास के द्वारा अच्छे और बुरे दोनों कार्य किए जा सकते हैं। बुरी आदतें भी अभ्यास के द्वारा ही बनती और दृढ़ होती हैं। अत: प्रारम्भ से ही सावधान रहना चाहिए कि कहीं अनुचित कार्यों या आदतों का पोषण अभ्यास द्वारा न हो जाए।

जीवन को विकसित एवं उन्नत बनाने वाले गुणों का ही अभ्यास करना चाहिए। सद्गुणों का अभ्यास करने से मनोबल बहुत बढ़ता एवं सुदृढ़ होता है। विवेकपूर्वक सद्गुणों का अभ्यास जीवन के सफलता की कुंजी है। □